भाषा की शक्ति

और

अन्य निबन्ध

लेखक

सम्पूर्णानन्द

१९४५

बाँसथाना
बलिया

दारागंज,
इलाहाबाद

भूमिका

कुछ मित्रों की यह इच्छा थी कि मेरे साहित्यिक निबंधों का संग्रह प्रकाशित किया जाय परन्तु बहुत खोज करने पर भी मेरी कोई ऐसी रचना न मिल सकी जो यथार्थरूप से साहित्यिक कही जा सकती हो। एक तो मुझमें उपयुक्त योग्यता नहीं है; दूसरे, ऐसे व्यक्ति के लिए जो राजनीति में सक्रिय भाग लेता हो उस निर्वात बौद्धिक प्रदेश में आसन जमाना कठिन होता है जहाँ से साहित्यिक रचनाओं का उद्‌गम माना जाता है। सङ्कल्पनिर्वाह के लिए यह संग्रह प्रस्तुत किया गया है। इसमें जो निबन्ध हैं उनकी इतनी ही सजातीयता है कि उनमें से किसी का राजनीति, धर्म्म, अर्थनीति जैसे विवादग्रस्त विषयों से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है और कोई भी आन्दोलन या प्रचार की दृष्टि से नहीं लिखा गया है।

साहित्यशास्त्री न होते हुए भी मुझे हिन्दी से प्रेम है, उसके वाङमय की श्रीवृद्धि देखना चाहता हूँ। साधारण नागरिक चिकित्सा-शास्त्र का पण्डित नहीं होता परन्तु औषध का प्रयोग तो उसी के ऊपर होता है, इसलिए उसको वैद्य को परामर्श देने और उसकी आलोचना करने का अधिकार है। बस, ऐसे ही अधिकार के आधार पर मैं साहित्यस्रष्टाओं की आलोचना करता हूँ।

इस प्रकार की पुस्तक के लिए लंबी भूमिका की आवश्यकता नहीं होती। सम्भव है मेरा कोई विचार मेरे किसी सहकर्म्मी को रुचिकर और उपादेय प्रतीत हो, इसी भरोसे मैं इस संग्रह को निकलने दे रहा हूँ। निबन्धों में से दो, जिनका विषय शिक्षा है, विश्व-भारती में निकल चुके हैं। उनको सम्मिलित करने की अनुमति पण्डित हजारीप्रसाद द्विवेदी की कृपा से मिली है। कला-सम्बन्धी निबन्ध मेरे चिद्विलास नाम के दर्शनग्रंथ के, जो ज्ञानमण्डल से प्रकाशित हो चुका है, एक अध्याय का सारांश है। इसका कुछ दिग्दर्शन 'जीवन और दर्शन' नाम की मेरी पुस्तक में हो चुका है। हास्यरस वाला निबंध 'प्रेमा' के हास्यरसांक में निकल चुका है। शेष निबन्ध इस बार बनारस जिला जेल और बरेली सेण्ट्रल प्रिजन में लिखे गये थे और अब तक अप्रकाशित हैं।

—सम्पूर्णानन्द

विषय	पृष्ठ

भाषा की शक्ति

उन थोड़े से अभागों को छोड़कर जिनको विधाता ने गूँगा जन्म दिया है अन्य सभी लोग बोलते हैं। बोलना भी दो प्रकार का होता है। कभी-कभी किसी आवेश या पीड़ा या वायुविकार की अवस्था में मुँह से आपसे आप ही आः, अरे, हूँ, आह जैसे अव्यय स्वर निकल जाते हैं। इनके द्वारा सुननेवाले को हमारी मानस-अवस्था का कुछ न कुछ पता लग जाता है, परन्तु हम इनको संकल्पपूर्वक नहीं बोलते। ऐसे निरुद्देश्य स्वर भाषा के अङ्ग हैं परन्तु इनसे ही भाषा नहीं बनती। उसका मुख्यांश वह है जो सोद्देश्य बोला जाता है। बोलने में एकमात्र उद्देश्य श्रोता को प्रभावित करना होता है। प्रभाव के स्वरूप विभिन्न होते हैं। कभी हम उसके ज्ञान की वृद्धि करना चाहते हैं, कभी उसको अपनी ओर आकृष्ट करके उसके द्वारा अपने ज्ञान की वृद्धि करना चाहते हैं, कभी उसको किसी काम में प्रवृत्त होने के लिए प्रेरणा देना चाहते हैं, कभी किसी काम से रोकना चाहते हैं। परन्तु जहाँ इस प्रकार का कोई उद्देश्य नहीं होता वहाँ भाषा का प्रयोग नहीं किया जाता। कवि और स्तोता भी इस नियम के बाहर नहीं हैं। कवि के सामने परोक्ष-रूप से वह सब लोग

रहते हैं जिनसे वह अपनी रचना के पढ़ने की आशा रखता है। जो रचना स्वान्त:सुखाय की जाती है उसमें भी कवि अपने आत्मा को श्रोता रूप से संबोधित करता है। जो मनुष्य ऐसा नहीं कर पाता, अर्थात् जिसका मानस-विकास ऐसा नहीं हुआ है कि आप ही वक्ता और श्रोता बन सके, वह कवि नहीं हो सकता। गम्भीर से गम्भीर वेदना में भी मूक ही रह जाता है। स्तोता भी अपने उपास्य को लक्ष्य करके ही रचना करता है। वह स्वयं अपने भगवान् को न देख सकता हो पर उसको इतना दृढ़ विश्वास है कि वह मेरी बातें सुन रहा है और उन पर ध्यान देगा।

भाषा को मनुष्यों को प्रभावित करने की सामर्थ्य इसी लिये प्राप्त है कि वह सामाजिक सम्पत्ति है। भले ही वह व्याकरण के नियमों का पालन करती हो परन्तु वैयाकरण उसका स्रष्टा नहीं है। जैसा कि पतञ्जलि ने महाभाष्य में लिखा है——वैयाकरण भाषा का कुम्भकार नहीं है। वह अपनी या दूसरों की इच्छा से भाषा की रचना नहीं किया करता। लोगों का बोलना सुनकर नियमों की खोज करता है। बहुत से शास्त्र-कारों को समास, तद्धित, प्रत्यय आदि उपायों से नये शब्दों का निर्माण करना पड़ता है। इस प्रकार गढ़ा गया शब्द अपने रचयिता की कृति तो है परन्तु आरम्भ में वह एक स्वर मात्र है जिसका अर्थ केवल एक व्यक्ति जानता है। वह उसकी सम्पत्ति है। पर जिस दिन वह उसको दूसरों के सामने रख देगा और दूसरे लोग भी उसका व्यवहार करने लग जायँगे उस दिन वह सार्वजनिक सम्पत्ति हो जायगा और भाषा का अंग बन जायगा। मेरे एक मित्र लाल पेंसिल को 'रक्तमुखी' कहते हैं। स्वर बुरा नहीं है परन्तु लाल पेंसिल के अर्थ में इस पर उनका एकाधिकार है। जिस दिन उनके प्रयत्न से या किसी अन्य प्रकार से सब लोग ऐसा व्यवहार करने लग जायँगे उस दिन यह हिन्दी भाषा का अंग हो जायगा। आज यदि वह किसी के सामने इसका प्रयोग करें तो उस पर वह प्रभाव न पड़ेगा जो उनको अभीप्सित है। सार्वजनिक हो जाने पर यह श्रोता को प्रभावित करने का साधन बन जायगा।

मैं बराबर वक्ता और श्रोता की बात इसलिए कर रहा हूँ कि लिखित भाषा उच्चरित भाषा का ही रूपान्तर है और लेखक तथा पाठक वक्ता और श्रोता के ही रूपान्तर हैं।

सार्वजनीन अर्थ के बोध करानेवाले स्वर, जिनको हम अब शब्द कहेंगे, भाषा के अंग होते हैं पर इनका प्रत्येक समूह अर्थवाहक नहीं होता। शब्दों का अर्थवाहक समूह वाक्य कहलाता है। वाक्य में शब्द मुख्यशः पद रूप में, अर्थात् विभक्तियों तथा कालादि भेदों के प्रत्ययों से युक्त होकर आते हैं। 'राम वहाँ खाना' शब्द समूह है, वाक्य नहीं है; 'वहाँ राम ने खाया' वाक्य है। इस शब्द समूह में आकांक्षा गुण आ गया है, अर्थात् एक शब्द दूसरे शब्द की आकांक्षा रखता है, दूसरे शब्द को खोजता है। 'वहाँ' सुनने पर क्या हुआ?, राम ने सुनने पर 'क्या किया?' 'खाया' सुनने पर 'किसने?' जानने की स्वाभाविक इच्छा होती है। पर केवल प्रत्ययादि का सत्प्रयोग वाक्य के लिये पर्य्याप्त नहीं है। केवल इनका विचार करने से जो वाक्य बनता है वह व्याकरण के अनुकूल होकर भी अर्थहीन होता है। 'राम ने आग से गन्ना सींचा' व्याकरण की दृष्टि से वाक्य है परन्तु इसमें एक दोष है जिसे 'अयोग्यता' कहते हैं। आग से गन्ने का सींचा जाना देखा नहीं गया। सार्वजनिक अनुभव में इसके लिये स्थान नहीं है इसलिए 'आग से सींचना' सार्वजनिक सम्पत्ति नहीं है, भाषा नहीं है, यद्यपि 'आग' और 'सींचना' दोनों शब्द भाषा के अंग हैं और 'आग से सींचा' व्याकरण के अनुसार शुद्ध है। इससे यह बात स्पष्ट हो गई कि शब्दों का कोई भी समूह तभी भाषा के अन्तर्गत माना जा सकता है जब वह सार्थक हो और सार्थकता की कसौटी यह है कि वह चित्त में जो विचार उत्पन्न करे उसका आधार ऐसा अनुभव हो जो श्रोता और वक्ता दोनों को समान रूप से प्राप्त हुआ हो। यह बात शब्द समूहों के लिए ही नहीं समासान्त शब्दों के लिए भी लागू है। हम 'शशशृङ्ग' 'गधे की सींग' बोल सकते हैं पर इन वस्तुओं को किसी ने नहीं देखा है, इसलिये

इन समस्त शब्दों* का कोई अर्थ नही है। भाषा में इनको दविड़ प्राणायाम के ढग मे स्थान मिला है। शश को शृङ्ग नही होती, गधे को सीग नही होती। 'नही' अर्थात् अभाव, अनस्तित्व, सार्वजनीन अनुभव का विषय है अत. ऐसे शब्दों में कोषार्थ पीछे डाल दिया जाता है क्योंकि वह सामान्य अनुभव का विषय नही है और वाच्यार्थ कोई ऐसी सर्वानुभूत वस्तु बन जाती है जिसकी ओर यह शब्द अप्रत्यक्ष रूप से संकेत करते है।

प्रत्येक वाक्य में कम से कम दो पद तो होने ही चाहियें; एक नाम और दूसरा आख्यात। नाम के अन्तर्गत जाति और द्रव्य-वाची सज्ञा शब्द तथा सर्वनाम जैसे वह सब शब्द होते है जो कर्ता रूप मे आते है। आख्यात में क्रिया पद होते है। यदि किसी वाक्य मे इन दो में से एक प्रत्यक्ष न देख पड़ता हो तो अन्यत्र से अध्याहार्य्य होगा, लाया जा सकता होगा। परन्तु नाम और आख्यात के योग मात्र से ही समुचित वाक्य नही बनता, चाहे वहाँ योग्यता का अभाव न हो। समुचित वाक्य, ऐसा वाक्य जिससे अर्थ का बोध और ज्ञान का सचार हो, तभी बनता है जब आख्यात के द्वारा नाम के सम्बन्ध में कुछ व्ययदेश किया जाय, कोई ऐसी बात कही जाय जो पहिले से ज्ञात न हो, जो नई हो। 'गोविन्द है', 'उस गऊ की सीग छोटी है'—ऐसे वाक्यों में व्ययदेश है परन्तु 'गायक गानेवाला होता है' ऐसा वाक्य नही है। जो मनुष्य संस्कृत के गायक शब्द का अर्थ न जानता हो उसके लिए तो यह वाक्य उसी प्रकार अर्थवाहक हो सकता है जिस प्रकार कोष की यह पंक्ति

गायक—गानेवाला, गायन करनेवाला।

परन्तु भाषा जाननेवाले के लिए इसमें कोई नई बात नहीं है। 'गानेवाला गानेवाला होता है' व्यर्थ की पुनरुक्ति है। यदि निष्पक्ष भाव से देखा

*'गधे की सीग' समासान्त शब्द नही है पर सुविधा की दृष्टि से मैंने उसे यहाँ ले लिया है। इसका संस्कृत रूप' 'खरविषाण' निर्दोष उदाहरण है।

जाय तो बहुत-सा तथाकथित् साहित्य, विशेषतः पद्य-साहित्य, इस प्रकार के वाक्यों से भरा पड़ा है।

हमने ऊपर देखा है कि शब्द सार्वजनिक सम्पत्ति है और उसका अर्थ सार्वजनिक अनुभव है। विचार करने से प्रतीत होता है कि वस्तुतः शब्द का अर्थ सार्वजनिक कृति है। कागज़ के एक टुकड़े पर कुछ अक्षर और अंक छपे होते हैं। उसे नोट कहते हैं। जब तक वह किसी बकस में पड़ा होता है तब तक निर्जीव रहता है, उस पर कुछ भी लिखा हो पर वह उतना ही निकम्मा है जितना कि कूड़ेखाने में पड़ा हुआ समाचार-पत्र का एक फटा टुकड़ा। पर जब वह नोट हाथों हाथ घूमने लगता है तब और कागज़ों से उसका जो भेद है वह स्पष्ट हो जाता है। वह अन्न और वस्त्र में, अध्यापक के वेतन और औषध के मूल्य में परिणत हो जाता है, उसका अर्थ मनुष्य की भूख और ठण्ड, जिज्ञासा और पीड़ा से आँका जाता है। कागज का छपा हुआ टुकड़ा अब भी है परन्तु इस सार्वजनिक व्यवहार ने उसको सुख, स्वास्थ्य और ज्ञान का साधन और पर्य्याय-सा बना दिया, यहाँ तक कि यों कहने को जी चाहता है कि इतने रुपये का नोट = इतनी तृप्ति = इतना स्वास्थ्य = इतना ज्ञान। यही बात शब्दों में है। शब्द है तो स्वर ही पर जब वह भाषा में व्यवहृत होकर सैकड़ों मनुष्यों में घूमता है तो उसमें विचित्र सप्राणता, विचित्र शक्ति आ जाती है। यह शक्ति बढ़ती जाती है। शब्द मनुष्यों को प्रभावित करता है परन्तु उनसे आप भी प्रभावित हो जाता है। थोड़े दिनों तक व्यवहार में रहने पर किसी भी शब्द का अर्थ पूर्ववत् नहीं रह जाता। मूल अर्थ के चारों ओर उपार्थों का, गौण अर्थों का, एक पुंज बन जाता है। किसी स्वर को वीणा पर, वंशी पर, सारंगी पर निकालिये, गले से उठाइये। स्वर वही होगा परन्तु प्रत्येक बाजा पहिचाना जा सकता है, सबकी झनकार अलग-अलग होती है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक स्वर के साथ दबे रूप से कुछ गौण स्वर भी उत्पन्न होते हैं और सब बाजों में एक ही गौण स्वर नहीं उठते। इसी से परख होती है। इसी प्रकार एक ही विषय का

अनुभव सब को एक-सा नहीं होता। कोई भी दृश्य हो, दस व्यक्तियों मे, जिन्होंने उसको ध्यान से देखा हो और यथार्थवादी हों, उसका वर्णन पूछिये। सब एक-सी बात नही कहेगे। थोडा-थोड़ा अन्तर होगा। अपनी अपनी धारणा शक्ति, अपना अपना बुद्धिविकास, सबमे पृथक् है, इसी लिए समान विषय के अनुभव में भी थोड़ा-थोड़ा भेद है। यह सब अनुभूति-भेद वाचक शब्द के अर्थ के साथ मिल जाते हैं। एक शब्द सार्वजनिक अनुभव, अर्थात् मिलते-जुलते बहुत से अनुभवों के योग, का वाचक बन जाता है और अनुकूल समय पर अपने अर्थ के अंश विशेष को व्यक्त करता है। सारा अर्थ उसके भीतर छिपा रहता है और एक साथ प्रायः कभी भी प्रकट नहीं होता। उदाहरण के लिए 'स्त्री' शब्द लीजिये। स्थूलरूपेण वैज्ञानिक दृष्टि से तो स्त्री मनुष्य जाति का वह प्राणी है जिसके शरीर की बनावट गर्भ धारण करने और बच्चे को दूध पिलाने के उपयुक्त है और जिसका चित्त वात्सल्य जैसे भावों का आधार है। सम्भवतः वैद्य, प्राणि शास्त्री और मनोविज्ञान के वेत्ता के लिए इसके यह ही अर्थ होते होंगे। साधारण मनुष्य के लिए स्त्री कभी माता, कभी लड़की, कभी बहिन और कभी प्रेयसी होती है। देशभक्त के लिए स्त्री महारानी लक्ष्मी-बाई जैसी महिलाओं की समानरूपा है जिन्होंने अपने अपने समय में स्वातन्त्र्य के लिए लड़नेवालों को स्फूर्ति प्रदान की थी। जो उपासक जगत् को देवीमय देखता है और 'विद्या समस्तास्तवदेवि भेदाः, स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु'* मानता है उसके लिए स्त्री जगन्माता का प्रतीक है। असंस्कृत बुद्धिवालों के लिए स्त्री झूठ, अशौच आदि दुर्गुणों का समूह अतः 'ताडन की अधिकारी' है। विकृत बुद्धि तपस्वी के लिए तपोभ्रंशक प्रलोभनों में मुकुटमणि है। इस एक शब्द के यह सभी अर्थ हैं। परिस्थिति-वशात् व्यक्ति विशेष के चित्त में इसको सुनने से अर्थ विशेष उदय होता है। आँख और पाँव जल में नहीं फलते-फूलते और इनमें परस्पर सादृश्य

* हे देवि, जगत् की समस्त विद्याएँ और समस्त स्त्रियाँ तुम्हारी ही भेद हैं।—दुर्गा सप्तशती।

भी बहुत कम है, फिर भी हम इन अवयवों को कमल से उपमा देते हैं। योगी जब एक विशेष प्रकार से बैठता है तो हम उसके आसन को कमलासन कहते हैं। इन उदाहरणों में 'कमल' शब्द का अर्थ उसके प्राकृतिक वाच्य के आगे चला गया है। स्त्री का विवाह होता है तो वह पत्नी कहलाती है परन्तु पत्नी को 'सहधर्मिणी' भी कहते हैं। इस शब्द के अर्थ का सर्जन तो समाज के सहस्रों वर्षों के अनुभव और व्यवहार ने किया है। 'धर्म्म' की जगह क्या कोई दूसरा शब्द रक्खा जा सकता है ?

एक ही शब्द से कई प्रकार के अर्थ निकाले जा सकते हैं। एक तो उसका सीधा-सादा अर्थ होता है जो अभिधा अर्थात् प्रचलित व्यवहार पर निर्भर करता है। 'गऊ' शब्द सुनने से एक विशेष जाति के पशु का बोध होता है क्योंकि-उस प्रकार के पशु को इस नाम से पुकारने का दस्तूर है। इस अर्थ को वाच्यार्थ कहते है। दूसरा वह अर्थ है जो लक्षणाओं के द्वारा युक्तिपूर्वक शब्द में पहिनाया जाता है। 'लाल पगड़ी' आ रही है कहने से लाल पगड़ी वाले पुलिस कांस्टेबुल का बोध होता है। 'कमरा सो रहा है' कहने से कमरे में रहनेवालों की ओर संकेत होता है। इस प्रकार के अर्थ को लक्ष्यार्थ कहते हैं। कभी-कभी कहनेवाले के मन में कोई ऐसा भाव होता है जिसे वह किसी कारण से शब्दों के द्वारा स्पष्टतया व्यक्त नहीं करना चाहता। ऐसी दशा में कोई मर्मज्ञ ही उसके वाच्यार्थ के पीछे जाकर वास्तविक अर्थ को पकड़ पाता है। कभी-कभी कोई ऐसे सज्जन, जिनको यह सन्देह हो जाता है कि आप उनसे चन्दा मागेंगे, आपको सुना-कर कहते हैं 'आजकल व्यापार बड़ा मन्दा है'। बात सोलहों आने सच्ची होगी पर उनका तात्पर्य यह होता है 'मैं इस समय आपको कुछ दे नहीं सकता।' इस प्रकार के छिपे अर्थ को व्यंग्यार्थ कहते हैं। यह व्यंग्यार्थ तो उपायसाध्य होता है परन्तु कई ऐसे शब्द हैं जिनके साथ कुछ गौण अर्थ नित्यलग्न रहते हैं। यह गौणार्थ उन शब्दों के सैकड़ों वर्षों के प्रयोग के संस्कार स्वरूप होते हैं और कभी-कभी उनके गर्भ में उस भाषा को बोलने-वालों का सैकड़ों वर्षों का सांस्कृतिक इतिहास सम्पुटित रहता है।

अपने सहज, व्युत्पत्तिमूलक, कोष में दिये हुए अर्थ के साथ शब्द जो इस प्रकार के उपार्थ जोड़ लेते है उनको ध्वनि कहते हैं। ध्वनि में ही शब्द की विशेषता होती है। ध्वनिभेद के कारण समानार्थक शब्द भी बहुधा एक दूसरे के ठीक-ठीक पर्य्याय नहीं होते। इसी कारण अधिकांश शब्द गणित के अङ्कों की भाँति प्रतीकात्मक नही होते। दो मनुष्यों, दो गैसों, दो तारों में जो समान गुण दो की संख्या है, उसका प्रतीक २ है। अरबी में इसे ٢ लिखते है। रोमन में II लिखने की प्रथा है। हम चाहें तो कोई और चित्र बना लें। २ की जगह ٢ या II करने से कोई अन्तर नहीं पड़ता। गणित की पुस्तक किसी देश की बोली में छपी हो, अंकों को एक बार पहचान लेने पर सभी लोग उनको पढ़ लेंगे और सब पर एक ही प्रभाव पड़ेगा।

२ + ३ = ५

इसका अर्थ सबके लिए एक है। इसकी जगह II + III = V या ٢ + ٣ = ٥ लिखने से कोई भेद नहीं होता, प्रत्येक व्यक्ति अपनी बोली में इन चिह्नों का नाम ले लेगा। इन नामों में से किसी के साथ कोई गौण अर्थ, कोई ध्वनि नहीं है परन्तु शब्दों में ऐसा करना बहुत कठिन है। दूसरी भाषा में अनुवाद करने पर तो वह बात आ ही नहीं सकती, अपनी ही भाषा में एक शब्द की ध्वनि दूसरे में नहीं लाई जा सकती। पतिपरायणा स्त्रियाँ सभी समाजों में होती हैं पर 'सती' की ध्वनि निराली है। 'योगी' के स्थान में कोई दूसरा शब्द नहीं रक्खा जा सकता।

बोलनेवाले ही शब्दों को ध्वनि प्रदान किया करते हैं परन्तु प्रचलित कोषार्थ और ध्वनि की ओर हठात् उदासीनता नहीं दिखलाई जा सकती। शब्द पर उतना ही अर्थभार डाला जा सकता है जितना वह सह सके। जो कवि शृङ्गारमयी रचना करता है और फिर यह दिखलाना चाहता है कि उसका अभिप्रेत अर्थ आध्यात्मिक था वह या तो अपने श्रोताओं और पाठकों को मूर्ख समझता है या भाषा के साथ बलात्कार करता

है। चतुर टीकाकार चाहे तो होली की गालियों को भी योगवेदान्त के तत्त्वों से ओतप्रोत सिद्ध कर सकता है। सम्भव है गाली के प्रयोक्ता का उद्देश्य भी ब्रह्मज्ञानोपदेश ही रहा हो परन्तु ऐसी दशा में उसको ऐसे शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिए था जिनके अर्थावरण में से आध्यात्मिक ध्वनि नहीं निकला करती। श्रद्धा या दुराग्रह से चाहे जो कहा जाय परन्तु यदि गीतगोविन्द के केलिवर्णन में मुझे कोई आध्यात्मिक तथ्य नहीं मिलता तो यह दोष जयदेव का है, मेरा नहीं। काव्य-ग्रन्थ इस आशय से बनाये जाते हैं कि उनका जनता में प्रचार हो। कवि को इतना ज्ञान होना चाहिए कि उन शब्दों से साधारणतः कैसा अर्थ ग्रहण किया जाता है जिनका उसने प्रयोग किया है। यदि शब्द-विन्यास विषय से असङ्गत है तो फिर पाठक को दोष देना वैसा ही है कि 'उलटा चोर कोतवालै डाँटै'।

एक अक्षर के हेरफेर से शब्द कुछ का कुछ हो जाता है और उसकी शक्ति में आकाश-पाताल का अन्तर हो जाता है। 'त' और 'म' विभिन्न स्वर हैं परन्तु दो में से एक में भी कोई विशेष शक्ति नहीं है। यदि एक की जगह दूसरा उच्चरित हो जाय तो हमारे ऊपर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता परन्तु 'मेरा लड़का मर गया' और 'तेरा लड़का मर गया' के प्रभाव में कोई समानता ही नहीं मिल सकती। इसी प्रकार वक्ता के स्वर भेद से शब्द के सामर्थ्य में बड़ा अन्तर पड जाता है। 'तुमने ऐसा किया' वर्णनात्मक वाक्य है। 'किया' के स्वर को बदल देने से प्रश्न हो जायगा: तुमने ऐसा किया ? 'तुमने' या 'ऐसा' के स्वर में हेरफेर करने से आश्चर्य, प्रशंसा, भर्त्सना के भाव प्रदर्शित किये जा सकते हैं। दोनों पर ज़ोर देने से आश्चर्य और निन्दा का कैसा संमिश्रण प्रदर्शित होता है! स्वर के इस भावप्रदर्शक विकार को काकु कहते हैं।

एक दूसरे के सान्निध्य से शब्दों की शक्ति पर और पानी चढ़ जाता है। पद्य रचयिता सान्निध्य के अतिरिक्त उनको भिन्न-भिन्न प्रकारों

से सजाता है, यह सजावटें ही विभिन्न छन्द हैं। इनके द्वारा शक्ति में अद्‌भुत वृद्धि हो जाती है। विभिन्न भावों के उदय के साथ-साथ नाड़ि-संस्थान के स्पन्दन में भी अन्तर होता है। छन्दों में वर्ण और स्वर का आरोह-अवरोह प्राणस्पन्द के लय की अनुकृति होता है। इसलिए छंद काव्य के लिये कृत्रिम बन्धन नहीं प्रत्युत भावानुकूल प्राकृत कलेवर है। छन्द स्पन्द को और स्पन्द भाव को जगाने में सहायक होता है। जो बात पद्य में कुछ थोड़े से शब्दों में कह दी जाती है, गद्य में उसके लिये बहुत से शब्द लगते हैं और फिर भी वह रस नहीं मिलता क्योंकि ध्वनि उड़ चुकी होती है। एक गाने की पंक्ति है, 'मेरी ननद निगोड़ी जागै'। इसमें ननद की जगह 'पति की बहिन' कर दीजिये, जैसा करने का आपको पूरा अधिकार है, और 'निगोड़ी' की जगह बदमाश, दुष्ट, तंग करने-वाली या ऐसा ही कुछ और बदल दीजिये, फिर देखिये कैसा स्वाद मिलता है। कई सौ वर्षों में 'ननद' और 'भावज' ने अपने चारों ओर जो भावमय ध्वनियाँ बटोर ली हैं, वह 'पति की बहिन' और 'भाई की पत्नी' के पास नहीं हैं। गानों में जो रस 'सेज' शब्द से टपकता है उसका एक बूंद भी 'शय्या' के पास नहीं मिल सकता। उत्तर रामचरित के प्रथमांक में महाराज दशरथ के समय का पुराना कंचुकी रामचन्द्रजी के सामने आता है। वह उनको बचपन में गोद में खेला चुका है। उन दिनों उनको रामभद्र कह कर पुकारता था, जैसे आजकल हमारे घरों में पुराने नौकर बच्चों को राम बाबू या राम भैया कह कर पुकारते हैं। पुराने अभ्यास से उसने अब भी उसी प्रकार पुकारा, फिर यकायक रुक गया। यह स्मरण हो आया कि अब तो यह राजा हैं। स्नेह की जगह भय ने ली और उसने सम्बोधन को बदल दिया। इस सारी लम्बी कथा को भवभूति ने कितनी सुन्दरता से कितने थोड़े शब्दों में व्यक्त किया है :—

*कंचुकी—रामभद्र—(इत्यर्धोक्ते साशंकम्) महाराज—

---

* कंचुकी—रामभद्र—(इतना ही कहकर, आशंका के साथ)—महाराज।

जनक की वाटिका में सीताजी को देखकर रामचन्द्रजी की जो अवस्था हुई उसका वर्णन तुलसीदास जी इस प्रकार करते हैं :—

करत बतकही अनुज सन, मन सिय रूप लोभान।
मुख सरोज मकरन्द छवि, करत मधुप इव पान॥

गद्य में इसको इस प्रकार कह सकते हैं—'भाई से बातें करते जाते थे पर उनका मन सीताजी के रूप पर मोहित हो गया था। सीताजी का मुख कमल के समान था, उसमें जो छवि थी वह उस मकरन्द अर्थात् मीठे रस के समान थी जो कमल में पाया जाता है। जिस प्रकार भौंरा इस रस का लोभी होता है और कमल पर आकर बैठता है उसी प्रकार रामचन्द्रजी का मन छवि का आनन्द लेने के लिए सीताजी के मुख की ओर लगा हुआ था।' कमल और भौंरा और मकरन्द की व्याख्या और भी लम्बी की जा सकती है परन्तु जितनी ही व्याख्या की लम्बाई बढ़ती जाती है उतनी ही भावमयता, प्रभावकता दूर भागती जाती है।

जब मैं था तब पिउ नहीं, अब पिउ हैं मैं नाहिं।
प्रेम गली अति साँकरी, या में द्वै न समाहिं॥

कबीर के इस एक दोहे के ऊपर एक पूरी पोथी लिखी जा सकती है पर जो ग्राहकता दोहे में है वह उसमें कहाँ मिलनी है। दोहा छन्द बना रहने दीजिये, 'पिउ' की जगह पति और 'या' की जगह 'इस' कर दीजिये। 'अति साँकरी' की जगह 'बड़ी पतली' को दे दीजिये और 'गली' को 'सड़क' बना दीजिये। नया रूप यह हो गया :—

जब मैं था तब पति नहीं, अब पति हैं मैं नाहि।
प्रेम सड़क पतली बड़ी, इसमें दो न समाहि॥

मूल बात तो वही है पर दोहे का प्राण निकल गया, क्योंकि नये शब्दों में वह ध्वनि, वह भावोत्पादकता, नहीं है।

हिन्दी कवियों ने वर्षाकालीन रचनाओं में प्रायः 'दादुर' शब्द से काम लिया है। यदि 'दादुर धुनि चहुँ ओर सोहाई' की जगह तुलसीदास जी 'मेंढक धुनि चहुँ ओर सोहाई', लिख देते तो कैसा भोंड़ा लगता?

मैंने एक उदीयमान कवि को 'शम्पा' लिखते देखा है। उनको ऐसा करने का पूरा अधिकार है, पर मेरी समझ मे काव्य मे तडित्, सौदामिनी, चञ्चला, चपला, विद्युत्, बिजली या बिज्जु मे से कोई भी शब्द शम्पा सें कही अधिक खिलता। ध्वनि और व्युत्पत्ति भेद पर ध्यान न देने से शब्दो का बहुत दुष्प्रयोग हो जाता है। 'आयु' और 'वय' के अर्थो मे साम्य है परन्तु जन्म से वर्तमान काल तक बीते समय को वय और मृत्यु के काल तक बीते समय को आयु कहते है। इस बात पर ध्यान न देकर लोग कभी-कभी पूछ बैठते है 'आपकी आयु क्या है?' इसका क्या उत्तर दिया जाय? यदि दूसरी भाषाओं में दोनों अर्थों के लिए एक ही शब्द है तो उनकी दरिद्रता हिन्दी के सिर क्यों लादी जाय? 'अवश्य' भी एक ऐसा शब्द है जिसके साथ बहुत अन्याय होता है। अमुक काम 'अवश्य' होगा, कहने मे दबाव, अनिवार्यता, बेबसी का भाव टपकता है परन्तु सर्वत्र यह भाव उद्दिष्ट नहीं होता। यदि मैं किसी से यह कहना चाहता हूँ कि आप शङ्का न करें, मैं आऊँगा तो वहाँ 'अवश्य' कहना ठीक न होगा, जब तक कि मेरा यह भी प्रयोजन न हो कि इच्छा न रहते हुए भी मुझे बरबस आना पड़ेगा। बहुत से स्थलों पर अवश्य की जगह 'निःसन्देह' को देनी चाहिए। आजकल बोलचाल में, कभी-कभी लिखने में भी, 'आशा' का बड़ा दुष्प्रयोग हो रहा है। 'मैं आशा करता हूँ कि जब तक मैं पहुँचूँगा तब तक उनकी मृत्यु हो चुकी होगी'—ऐसे भी वाक्य देखने-सुनने में आते हैं। लिखने-बोलनेवाले भूल जाते हैं कि भाषा में ऐसे ही अवसरों के लिए 'आशङ्का' जैसे शब्द विद्यमान हैं। महादेव के शिव, रुद्र, पशुपति, ईशान, विरूपाक्ष, अर्द्धनारीश्वर यह सभी नाम हैं; शक्ति को शाकम्भरी, चण्डी, सावित्री, मीनाक्षी, आद्या जैसे अनेक नामों से पुकारा जा सकता है परन्तु प्रत्येक नाम स्थल विशेष पर ही ठीक जँच सकता है। कहीं लाल रंग को अरुण कहना ठीक होता है, कहीं रक्त। कपूर में दो गुण हैं—उसका रंग श्वेत होता है और खुले रहने पर वह जल्दी उड़ जाता है। संस्कृत और हिन्दी में उसके नाम

के साथ श्वेतता की ही ध्वनि निकलती है, फ़ारसी और उर्दू में अचिर-स्थायिता की। हिन्दी में रात्रि को कपूर से उपमा देने का यही अर्थ लगाया जायगा कि धवल चन्द्रिका छा गई; उर्दू में इस उपमा का अर्थ होगा कि रात जल्दी से बीत गई। इन बातों पर ध्यान न देने से अर्थ का अनर्थ हो सकता है।

'ऋषि' भी उन शब्दों में है जिनके साथ आजकल बड़ा अन्याय होता है। 'ऋषयो मंत्रद्रष्टारः'—जिन लोगों के द्वारा वेदों के मंत्र अवतरित हुए हैं उनको ऋषि कहते हैं। हमारे जीवन में वेदों का जो अप्रतिम स्थान है उसको देखते हुए वेद मंत्रों से सम्बन्ध रखनेवाले इन महापुरुषों के लिये एक पृथक् नाम होना कोई बुरी बात या बड़ी बात नहीं थी। अन्य मतों में भी पैग़म्बर या प्रॉफ़ेट शब्द इसी प्रकार के व्यक्तियों के लिए छोड़ दिये गये हैं। पर आजकल यह दस्तूर चल पड़ा है कि नये मतों के प्रवर्तक ऋषि कहे जायँ। कभी-कभी राजनीतिक नेता भी ऋषि या ऋषिकल्प कहे जाते हैं। यह धाँधली है। जो लोग इन नये लोगों का आदर करते हैं वह उनको सुगमता से दूसरी उपाधियाँ दे सकते हैं। भृगु, वशिष्ठ, अंगिरा ऋषि थे पर उनकी कोई पूजा नहीं करता, राम कृष्ण ऋषि नहीं थे परन्तु पुजते हैं। अवतार जैसी पुरानी उपाधियों से काम नहीं चलता तो भाषा अभी बन्ध्या नहीं हुई है, नये शब्द गढ़े जा सकते हैं। जिस प्रकार जो सीना नहीं जानता उसको दर्ज़ी कहना असाधु प्रयोग है उसी प्रकार जो मंत्रद्रष्टा नहीं है उसको ऋषि कहना असाधु प्रयोग है।

यह थोड़े से उदाहरण मात्र हैं। सोचने से ऐसे और बहुत से शब्द मिलेंगे जो दुष्प्रयोग के कारण वाक्य के कलेवर को बिगाड़ देते हैं।

हम देख चुके हैं कि भाषा का प्रयोग श्रोता को प्रभावित करने के उद्देश्य से होता है। श्रोता में किसी भाव को जगाना प्रभावित करने का एक प्रकार है। वही भाव जगाये जा सकते हैं जो बीज रूप से श्रोता के अन्तःकरण में पहले से विद्यमान हों। इसलिए ऐसे शब्दों से काम लिया जाता है जिनमें गम्भीर ध्वनियाँ हों, जिनके वाच्यार्थ उभयपक्ष के अनुभव

में आये हों, जिनको उभयपक्ष बोलते हों। इस कला को साम्प्रदायिक उप-देष्टा, राजनीतिक नेता, सर्कारों के प्रचार-विभाग, पत्रकार और कवि खूब जानते हैं। यहाँ 'कला' शब्द का प्रयोग मैंने कारण विशेष से किया है। जिन लोगों का अभी उल्लेख किया गया है उनका उद्देश्य केवल पुरानी अनुभूतियों को जगाना, पुरानी स्मृतियों को पुनरुज्जीवित करना नहीं होता। स्मृति प्रत्यक्ष के बराबर तीव्र नहीं हो सकती। स्मृत सुख में वैसी मादकता, स्मृत दुःख में वह कसक नहीं होती जो उसमें उस समय थी जब उसकी अनुभूति प्रत्यक्षतः हुई थी। दुर्बल वेदनाओं को जगाकर क्या होगा, कवि और प्रचारक तो वर्तमान और अनागत के लिए तैयारी करते हैं, इसलिए वह अतीत से उतना ही काम लेना चाहते हैं जितना कि उस सीढ़ी से लिया जाता है जिस पर पाँव रख कर छत पर चढ़ना होता है। जिस उपाय से ऐसा किया जाता है वही लिखने-बोलने की कला है।

जब किसी मनुष्य के सामने कोई विषय आता है तो उसके अन्तःकरण पर जो प्रतिक्रिया होती है, उसके दो अंग होते हैं। कुछ तो दृष्य का स्वरूप अंकित होता है, कुछ उसके प्रति किसी न किसी प्रकार का भाव—राग, द्वेष या इनका कोई अवान्तर भेद—उत्पन्न होता है। अनुभूति या दर्शन स्वरूप और भाव का योग है, इसीलिए एक ही वस्तु का अनुभव दो व्यक्तियों को कभी एक-सा नहीं होता, चाहे उनकी ऐन्द्रिय और बौद्धिक क्षमता में कोई भेद न हो। भावों में भेद क्यों होता है यह रोचक विषय है पर यहाँ हम उस पर विचार नहीं करते। गणित जैसे 'सूखे' विषयों से भी भाव को पृथक् नहीं किया जा सकता। गणितज्ञ को टेढ़े प्रश्नों से बुद्धि लड़ाने और अन्त में उन पर विजय पाने में बड़ा रस मिलता है परन्तु वह यह समझता है कि भावों से वस्तु के स्वरूप पर पर्दा पड़ जाता है। जो भावों की धारा में बह रहा हो, जिसके चित्त में स्त्री की मदनवासना-तर्पिणी मुद्रा भरी हो, वह उसके शरीर पर नश्तर चलाकर उसकी दैहिक बनावट को नहीं समझ सकता। अपने घरवालों का फोड़ा चीरने में चिकित्सक का हाथ काँप जाता है, कड़वी औषध देते नहीं बनती। इसलिए

वैज्ञानिक भावों को दबाना चाहता है; उसका प्रयत्न यह होता है कि यथासम्भव दृश्य के पारमार्थिक रूप को, उस रूप को जो द्रष्टा के अभाव मे भी रहेगा, पहिचाने और दूसरों को भी पहिचनवाये। इसमें उसको कहाँ तक सफलता होती है यह तो दार्शनिक विषय है पर इस प्रयत्न में वह ऐसी भाषा से काम लेने का उद्योग करता है जिसमें 'मे' को बहुत कम स्थान हो। इसीलिए वह शब्दों की जगह अंकों और चिह्नों को देता है और अंकगणित से, जिसमें ऐसी वस्तुओं का उल्लेख होता है जो मनुष्य को भली या बुरी लगती हैं, रेखागणित और बीजगणित को, जिनमें केवल विन्दु, अक्षर और रेखा से काम लिया जाता है, श्रेष्ठ मानता है।

कवि और प्रचारक भावों को जगाना चाहते हैं पर भावों को वस्तुओं से अलग नहीं किया जा सकता। राग, द्वेष, प्रेम, क्रोध किसी न किसी वस्तु के प्रति ही उदय होते हैं। इसलिए इनको जगाने के लिये जिन शब्दों का प्रयोग किया जायगा उनसे बाहरी वस्तुओं का भी थोड़ा बहुत बोध होगा। कुशल वक्ता का, जो बोलने की कला जानता है, प्रयत्न यह होता है कि वस्तु का, शब्द के मूल अर्थ का, भान तनु और उसके गौण अर्थ का, ध्वनि का, भान उदार हो। भावाभिव्यक्ति कर्मप्रवृत्ति की पहली सीढ़ी है। लोगों में देशभक्ति, त्याग और कष्टसहन का भाव जगाने के लिये महाराणा प्रताप या शिवाजी या गुरु गोविन्दसिंह का यशोगान किया जाता है। इन लोगों का इतिवृत्त इतिहास की पुस्तकों में सविस्तर दिया रहता है। इनके जन्म लेने से अन्तिम साँस तोड़ने तक का ब्योरा मिलता है परन्तु इस सारे वर्णन से चित्त इन लोगों पर, इनके कामों पर, इनके समय की परिस्थितियों पर जम जाता है और उसकी वृत्ति उस चिकित्सक की-सी रस शून्य हो जाती है जो प्रयोगशाला में मुर्दे को चीरता है। कवि भी शब्दों से ही काम लेता है। उसकी रचना में भी इनके, इनके साथियों और शत्रुओं के, इनके युद्धस्थलों के, नाम आते हैं पर चित्त इन वस्तुओं में उलझने नहीं पाता। परिणाम यह होता है कि इन वस्तुओं के वाचक शब्दों की ध्वनियाँ खुलकर सामने आती हैं और

एक दूसरे मे मिलकर उस बलवती ध्वनि, उस तीव्र भाव को जन्म देती है जिसका जगाना सारी रचना का अभीष्ट होता है। पर्वत, नदी, वन, वायु, वर्षा का वर्णन भूगोल की पुस्तक मे भी मिलता है और काव्य की पुस्तक मे भी; परन्तु दोनों प्रकार के वर्णनों में महान अन्तर होता है। भूगोल की पोथी का लक्ष्य प्राकृतिक दृश्यों का फोटो खीचना होता है। कवि उनको अनुकूल भावों के जगाने का साधन बनाता है। इस प्रकार श्रोता को ऐसे भावों का अनुभव कराया जा सकता है जिनकी अनुभूति उसको पहले न थी; इसी कला के सहारे साधारण मनुष्य जो नित्यप्रति, के व्यवहार में भावुक नही प्रतीत होते, ऊँची से ऊँची आत्मबलि करने के लिए सन्नद्ध बना दिये जाते है।

इससे यह स्पष्ट है कि वाक्य का अर्थ, वह प्रभाव जिसका उत्पादन उसका अभीष्ट है, उसके अवयवभूत शब्दों के वाच्यार्थो से पृथक् भी हो सकता है। 'यहाँ सिंह है' में सिंह में अस्तित्वमात्र का व्यपदेश है परन्तु श्रोता इस वाक्य को केवल परिस्थितियों का परिचायक नहीं समझता। सिंह के साथ जो व्याघात की ध्वनि लगी हुई है वह उसको तत्काल सतर्क कर देती है। इतना ही नहीं, वक्ता की मुद्रा या उसके काकु से यह सतर्कता भय का रूप ग्रहण कर सकती है और वर्णन वाच्य आदेश वाच्य बन सकता है। 'यहाँ सिंह है' इन तीन शब्दों के वाच्यार्थ के पीछे वक्ता का अभीष्टार्थ 'भागो' विद्यमान है। इस प्रकार नये अर्थ का द्योतन प्रयोक्ता के कौशल पर निर्भर करता है। प्रत्यक्ष बातचीत में तो काकु आदि से भी वक्ता को सहायता मिलती है परन्तु लिखित काव्य में केवल रचना-चातुर्य्य का भरोसा होता है। बोलते तो सभी हैं परन्तु शब्दों की प्रत्यक्ष और परोक्ष शक्ति से कोई गुणी ही काम ले सकता है।

श्रोता के ज्ञान की वृद्धि करके भी उसे प्रभावित किया जाता है। परन्तु ज्ञान के क्षेत्र में भाषा की शक्ति इतने तक ही परिसीमित नहीं है कि वह पूर्वस्थित ज्ञान को एक व्यक्ति से दूसरे तक पहुँचा दे। तर्क की सहायता से भाषा हमारे ज्ञानभण्डार में वृद्धि करती है। मैंने बहुत

सी नीली वस्तुएँ देखी हैं, इसलिए नील शब्द के वाच्यार्थ को जानता हूँ; कमल भी छोटे, बड़े, लाल, पीले अनेक देखे है इसलिए इस शब्द का वाच्यार्थ भी परिचित है। जब मैं 'नील कमल' कहता हूँ तो बिना ऐसा फूल देखे भी उसके सम्भव गुणों से परिचित हो जाता हूँ। यह ज्ञान प्रत्यक्ष सापेक्ष है, अन्यथा नील कमल भी गधे की सींग की भाँति अभाव का वाचक हो जायगा परन्तु यदि प्रत्यक्ष का अविषय न हुआ तो नील कमल के गुण वही होंगे जो हमारे ध्यान में शब्द के सुनने से आ गये थे। कोई अपरिचित मनुष्य लोगों के सामने आता है। उसके विषय में जाँच करके मैं कहता हूँ कि यह हिन्दू है या धोबी है या हब्शी है; तत्काल सुननेवालों को उसके बहुत से गुणों का पता चल जाता है। एक नया खनिज मिलता है। उसकी परख करके रसायनवेत्ता कहता है कि इसमें ८० % लोहा है। तत्काल यह बात जान ली जाती है कि उसका किस-किस प्रकार और क्या-क्या उपयोग किया जा सकता है। किसी पशु के सम्बन्ध में यह सुनते ही कि यह जरायुज है हमको उसके शरीर के गठन तथा जीवनचर्य्या आदि के सम्बन्ध में कई बातें ज्ञात हो जाती हैं। इस प्रकार भाषा हमारे संचित ज्ञानभण्डार में नया ज्ञान जोड़ती है। भाषा का आधार श्रोता वक्ता का पुराना अनुभव, पुराना ज्ञान होता है, अन्यथा वह भाषा न होकर निरुद्देश्य स्वरों का समूहमात्र होती परन्तु उसके द्वारा नया ज्ञान प्राप्त हो सकता है, इसमें भी कोई सन्देह नहीं है। यदि भाषा का साधु प्रयोग हुआ है तो हमको यह पक्का विश्वास रहता है कि यह ज्ञान प्रत्यक्ष की कसौटी पर ठीक उतरेगा, अर्थात् सत्य होगा।

किसी ने कहा है कि भाषा विचारों को छिपाने का साधन है। कुछ दूर तक यह बात भी ठीक है। जिस प्रकार थोड़ा-सा कह कर बहुत से अर्थ का बोध कराया जा सकता है—'सुन्दरता मरजाद भवानी' कह कर तुलसीदास जी ने कल्पना की लम्बी से लम्बी दौड़ के लिए मैदान खोल दिया है—उसी प्रकार बहुत से शब्दों को इस भाँति बहाया जा सकता है कि उनमें से एक बूँद भी अर्थ न निकले। राजदूतों, पत्रकारों, राजनीतिक

नेताओं, उन सब ऐसे लोगों को जिनको समय-समय पर अनिवार्य्यतया बोलना पड़ता है, चाहे इच्छा हो चाहे न हो, इस प्रकार बोलने का अभ्यास पड़ जाता है। जो पुस्तक रुपया कमाने के लिये लिखी जाती है उसकी भी यही दशा होती है। विश्वविद्यालयों के छात्रों को कभी-कभी ऐसे अध्यापकों से पाला पड़ता है जिनकी जिह्वा घड़ी के पुर्जे की भाँति बराबर चलती रहती है परन्तु उनके घंटे भर के बोलने का निचोड़ कुछ नहीं के बराबर होता है।

यह दार्शनिक निबन्ध नहीं है, इसलिए शब्द, वाक्य, शब्दार्थ और वाक्यार्थ के सम्बन्ध में सविस्तर विवेचना करने की यहाँ आवश्यकता नहीं है, परन्तु इतना संकेत कर देना अनुचित न होगा कि यह सारे प्रश्न बहुत ही जटिल हैं। 'मनुष्य' का वाच्यार्थ क्या है? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए एक बड़ी पोथी लिखनी होगी, फिर भी उसमें उन सब बातों का समावेश स्यात् न हो पावेगा जिनका ज्ञान प्राणिशास्त्र, मनोविज्ञान, धर्म्मशास्त्र, दर्शन, आचारशास्त्र और समाजशास्त्र जैसी विद्याओं से प्राप्त होता है। मैं मनुष्य हूं, आप मनुष्य हैं, गोविन्द मनुष्य है, हिटलर मनुष्य है, पर हम सब में कोई भी मनुष्य शब्द का शुद्ध वाच्यार्थ नहीं है, सब वाच्यार्थ के पृथक् उदाहरणमात्र हैं। यही बात सब जातिवाचक नामों के लिये लागू है। द्रव्यवाचक नामों की भी कुछ ऐसी ही दशा है। मेरी लड़की का नाम मीनाक्षी था। जब जन्म हुआ तब भी मीनाक्षी थी, घुटनों चलती थी तब भी मीनाक्षी थी, स्कूल जाती थी तब भी मीनाक्षी थी, इहयात्रा समाप्त करते समय भी मीनाक्षी थी। प्रतिक्षण वय बदलता रहा, शरीर के अवयव बदलते रहे, बुद्धि बदलती रही, स्थान बदलता रहा, चेष्टा बदलती रही। जो मीनाक्षी एक बार थी, वह दूसरी बार नहीं रही। इस शब्द का सच्चा वाच्यार्थ तो इन सब मीनाक्षियों का योग होगा। यों जब मैं 'मीनाक्षी' कहता हूँ तो जो मूर्ति मेरे चित्त में उदय होती है वह इस नाम के वाच्यार्थ का एक अंशमात्र है।

सच पूछा जाय तो प्रत्येक शब्द एक प्रकार से जातिसूचक, दार्शनिक

परिभाषा में, 'सामान्य' है। मैं कहता हूं 'घोड़ा', आप भी कहते हैं 'घोड़ा'। साधारण व्यवहार में यह कहा जायगा कि हम दोनों एक ही शब्द का उच्चारण कर रहे हैं पर ऐसा तो नहीं है। उच्चारण के समय में भेद है, उच्चारण करनेवाले मुँह भिन्न हैं, उच्चरित स्वर भिन्न है। अत: दोनों स्वर एक नहीं हैं। मेरे ही मुँह से दो बार निकला हुआ 'घोड़ा' शब्द एक नहीं हो सकता। इन सब स्वरों में साम्य का होना निर्विवाद है पर यह साम्य उसी प्रकार का है जैसा कि दो उन प्राणियों में होता है जिनको हम इस साम्य के कारण घोड़ा कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि घोड़ा शब्द भी जाति या सामान्य का बोध कराता है। बार-बार एक ही 'घोड़ा' शब्द बोला जाता है कहने का अर्थ इतना ही है कि बार-बार उस जाति का स्वर किया जाता है जिसको घोड़ा कहते हैं। प्रत्येक बार का उच्चरित स्वर उस सामान्य का उदाहरणमात्र है।

दूसरा महत्त्व का प्रश्न यह है कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य है या अनित्य। नित्यता की परख अन्वय व्यतिरेक के आधार पर हो सकती है। यदि किसी शब्द विशेष के उच्चारण से अर्थ-विशेष का भान स्वत: हो जाय और उच्चारण के अभाव में न हो तो मानना होगा कि उस शब्द का उस अर्थ के साथ नित्य सम्बन्ध है। यदि यह सम्बन्ध नहीं मिलता तो फिर सम्बन्ध अनित्य और व्यवहारमूलक होगा अर्थात् लोगों में यह परम्परा किसी प्रकार चल पड़ी होगी कि इस वस्तु को इस नाम से पुकारा जाय। एक मत यह भी है कि यद्यपि साधारण शब्दों का अर्थों के साथ नित्य सम्बन्ध नहीं है तथापि शब्दों के अवयवभूत मूल स्वरों का अर्थ विशेषों के साथ नित्य सम्बन्ध है। यह अर्थ भी स्थूल अर्थ नहीं प्रत्युत सूक्ष्म अर्थ हैं जो वासना और भावना के रूप में हमारे जीवन व्यापार को चलाते हैं। इसी लिए संगीत का, जिसमें मूल स्वरों से ही काम लिया जाता है, प्रभाव ऐसे मनुष्यों पर भी पड़ता है जो गायक की भाषा को नहीं जानते। पशु पक्षी तक स्वरों के प्रयोग से प्रभावित किये जा सकते हैं।

हमने ऊपर देखा है कि वर्णनात्मक वाक्य में आख्यात के द्वारा नाम के विषय में कुछ व्ययदेश होता है। व्ययदेश पर विचार करने के पहले वाक्य के स्वरूप पर एक दृष्टि डालनी चाहिए। वाक्य शब्दों का समूह है पर यह समूह उस जाति का है जिस जाति के समूह प्राणि जगत् में पाये जाते हैं। भौतिक जगत् में अवयवी अपने अवयवों के योग के बराबर होता है। परन्तु सजीव जगत् मे अवयवी अवयवों के योग से बड़ा होता है। सजीव ही नहीं, अजीव जगत् में भी इस बात के उदाहरण मिलते हैं। नदी जलविन्दुओं का योगमात्र नहीं है। उसमें तरंग, प्रवाह, आह्लाद-कता, भयोद्दीपकता आदि जो गुण हैं वह विन्दुओं में अंशतः भी नहीं मिलते। मनुष्य हड्डी, मांस, चमड़ा, मस्तिष्क आदि का योगमात्र नहीं है। इसी प्रकार वाक्य भी शब्दों का योगमात्र नहीं है। उसका अपना व्यक्तित्व होता है जो सूत्रात्मा की भाँति उसके शब्दों में अनुस्यूत रहता है। 'कुत्ता चूहा खा गया' और 'चूहा कुत्ता खा गया'—इन दोनों में वही चार शब्द आये हैं। भौतिक दृष्ट्या इनमें कोई भेद नहीं है पर हमको तत्काल यह प्रतीति होती है कि दोनों वाक्य एक नहीं हैं। दोनों का व्यक्तित्व, अर्थयोजक सूत्र अलग अलग है। परन्तु शब्दों के भिन्न होने पर भी एक-वाक्यता हो सकती है। 'कुत्ता चूहा खा गया', 'कुत्ता चूहे को खा गया', 'चूहा कुत्ते से खाया गया', 'मूषकः कुक्कुरेण भक्षितः'—यह वस्तुतः विभिन्न रूपों में एक ही वाक्य है, क्योंकि वाच्यार्थ एक ही है।

अब व्ययदेश को लीजिये। मैंने पहिले कहा है कि वाक्य में आख्यात के द्वारा नाम के सम्बन्ध में कोई नई बात, ऐसी बात जो श्रोता को ज्ञात नहीं थी, बतलाई जाती है। 'अमुक तिथि को दिन में १॥ बजे मीनाक्षी की मृत्यु हुई' देखने में सीधा-सा वाक्य है। इसका अर्थ स्पष्ट प्रतीत होता है। मैं यह नहीं कहता कि अर्थ स्पष्ट नहीं है परन्तु इसका विश्लेषण करने से इसकी जटिलता का कुछ पता चलता है। काल की एक अविच्छिन्न धारा जगत् की रचना के आरम्भ से ही चली आ रही है। उस धारा में 'अमुक तिथि को दिन में १॥ बजे' एक विन्दु है। इस विन्दु

पर कई घटनाएँ हुईं परन्तु यहाँ हम उनमें से केवल एक पर ध्यान देते हैं। यह है मीनाक्षी की मृत्यु। करोड़ों जीव मर चुके, मर रहे हैं और मरेंगे। सब प्राणियों की जीवन-धारा कहीं न कहीं कटती है। कटने के सब ढंग एक से नहीं होते पर उनमें कुछ न कुछ सादृश्य होता है, अतः उन सबको मृत्यु शब्द का वाच्य मान लेते हैं। यों कह सकते हैं कि मृत्यु प्राप्त, मृत, व्यक्तियों की एक लम्बी माला है जिसमें बराबर नये दाने पुहते रहते हैं। इसी प्रकार एक माला या रेखा उन मूर्तियों की है जो सब मिलकर मीनाक्षी शब्द का वाच्यार्थ हैं। यह तीन रेखाएँ एक जगह मिलती हैं, एक दूसरे को काटती हैं। तीन रेखाओं से मेरा तात्पर्य्य काल रेखा, मृत-प्राणि रेखा और मीनाक्षी रेखा से है। इसी बात को हम अमुक समय पर मीनाक्षी का मरना कहते हैं। उस क्षण पर मीनाक्षी शब्द के वाच्यार्थ की अंगभूत एक मूर्ति विशेष मृत प्राणी शब्द के वाच्यार्थ के अन्तर्गत हो गई।

अर्थ के इस प्रकार के स्पष्टीकरण में हम कई बातों को मान लेते हैं। यहाँ उन पर विचार न करके भी उनकी ओर सङ्केत करना उचित होगा। काल को लीजिए। काल क्या है? उसकी कोई पारमार्थिक सत्ता है या वह हमारा बौद्धिक विकार है या दिक् की ही एक दिशा है? इसे भी छोड़िये, काल की नाप कैसे हो? पृथ्वी सूर्य्य की परिक्रमा करती है परन्तु सूर्य्य स्वयं चल है, अतः पृथ्वी जिस स्थान पर एक बार होती है वहाँ फिर कभी लौटकर नहीं आती। जब कोई स्थिर विन्दु नहीं है तो काल-प्रवाह कैसे नापें? जगत् का आदि कैसे हुआ? 'जगत् की उत्पत्ति के पहले' कहने से ही यह बात निकलती है कि तब भी काल था, क्योंकि पहले पीछे का व्यवहार काल में ही हो सकता है। फिर काल की नाप कब से हो? और नीचे के स्तर पर उतरने से भी कई कठिनाइयाँ रह जाती हैं। पृथिवी के बाहर की बात तो दूर रही, पृथ्वीतल पर भी न तो सब जगह एक साथ दिन होता है, न एक साथ १।। बजते हैं। इसलिए जब तक स्थान का निर्देश न हो तब तक समयनिर्देश पर्य्याप्त नहीं हो सकता।

दूसरी बात हम यह मान लेते हैं कि जिन नामों के विषय में कुछ व्यपदेश होता है उनके वाच्यार्थों का अस्तित्व है और व्यपदिष्ट की भी सत्ता है। 'यह कमल नीला है' कहते समय यह मान लिया जाता है कि कमल भी है और नील वर्ण भी है। पर इस बात का क्या प्रमाण है? कमल की अमुक आकृति होती है, अमुक गन्ध होती है, ऐसी कोमलता होती है, यह तो हम बोलते हैं परन्तु वस्तुतः कोमलता, गन्ध, आकार और रंग—यह सब वह विकार हैं जो इन्द्रियों के द्वारा हमारे चित्त में उत्पन्न होते हैं। अन्यमनस्क या विकलेन्द्रिय के लिए इनमें से किसी भी विकार का लोप हो सकता है। 'नील वर्ण' भी ऐसा ही विकार है। अतः व्यपदेश्य और व्यपदिष्ट, कमल और नील वर्ण दोनों हमारी बुद्धि में हैं। व्यपदेश एक विकार में दूसरे विकार का हो रहा है। तर्क से हमको ऐसा प्रतीत होता है कि भिन्न प्रकार के विकारों के उत्पन्न होने के लिए विभिन्न कारण होने चाहियें और यह कारण कहीं न कहीं अन्तःकरण के बाहर होने चाहियें, अन्यथा कई अन्तःकरणों में युगपत् एक ही प्रकार के विकार न उत्पन्न होते। इस तर्क में तथ्य भले ही हो पर इससे किसी बाह्य-जगत् में कुछ का अस्तित्व या कुछ पदार्थों का अतिस्त्व अनुमित हो सकता है, कमल के फूल और नीले रंग का अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता। यह भी विचारणीय है कि यह अनुभव करनेवाला 'मैं' क्या है।

इन कठिनाइयों को जाने दीजिये। इतना ही स्मरण रखिये कि यदि काल और बाह्यजगत् के प्रतीयमान रूपों के सम्बन्ध में सन्देह के लिए स्थल है तो फिर हमारे सारे अनुभव और उनका वर्णन, शब्द, वाक्य, भाषा, अर्थ यह सभी शंकास्थल में पड़ जाते हैं।

हम कहते हैं कि अमुक वाक्य सत्य है, अमुक झूठा है। 'कुत्ता चूहा खा गया है' सत्य हो सकता है, चूहा कुत्ता खा गया' सत्य नहीं हो सकता। यहाँ सत्य-असत्य का अर्थ क्या है और कसौटी क्या है? स्वयं अपने से कोई वाक्य सच-झूठ का परिचय नहीं देता। 'चूहा कुत्ते को खा गया' सुनने में बुरा नहीं लगता, लिखने में कष्ट नहीं देता। अकेले

वाक्य को लेकर सच-झूठ का निर्णय करना कभी-कभी कैसा कठिन हो सकता है इसको दिखलाने के लिए एक उदाहरण दिया जाता है जिसे 'झूठे की प्रहेलिका' कहते हैं। वह कुछ इस प्रकार से है। एक मनुष्य कहता है 'मैं इस समय झूठ बोल रहा हूँ।' उस समय उसके मुँह से यह एक ही वाक्य निकला था। अब यदि यह वाक्य झूठ है तो उस मनुष्य ने ठीक कहा अर्थात् वह सच बोला और यदि वाक्य सच है तो वह झूठ बोला। इसको यों कह सकते हैं कि यदि वह झूठा है तो सच्चा है और यदि सच्चा है तो झूठा है। अस्तु, वाक्य के सच-झूठ की परख बाहर से करनी होगी।

पहिले तो यह देखना होगा कि हम वाक्य में सार्वभौम सत्यता आरोपित करते है या एकदेशीय। यह स्पष्ट होना चाहिए कि हम क्या कहना चाहते हैं, सब कुत्ते सब चूहों को खा गये, सब कुत्ते एक चूहे को खा गये, एक कुत्ता सब चूहों को खा गया या एक कुत्ता एक चूहे को खा गया। हमारे उद्देश्य के निश्चित होने पर ही सच-झूठ की जाँच आरम्भ हो सकती है। जाँच के कई उपाय हैं जिनको मुख्यत: परिभाषामूलक, तर्कमूलक और ऐतिह्य कह सकते हैं। यहाँ पर हम उन वाक्यों पर विचार नही कर रहे है जिनमें हमारे निजी ऐन्द्रिय या बौद्धिक अनुभतियों या विकारों का वर्णन रहता है। इनकी सत्यता का तो हमको अपरोक्ष ज्ञान होता है। 'यह लड़की अण्डे में से तीसरे सप्ताह में निकली' झूठ है, क्योंकि मनुष्य शब्द की परिभाषा के अनुसार प्रत्येक मानव-सन्तान जरायुज ही होगी, अण्डज नही। यहाँ असत्यता निर्धारित करने के लिए परिभाषा ही पर्य्याप्त है, और कोई परख करना अनावश्यक है। कुछ वाक्यों की सत्यता-असत्यता तर्क अर्थात् अनुमान के बल पर निर्धारित की जा सकती है। दूरस्थ पहाड़ पर धुआँ देखकर अग्नि की सत्ता का अनुमान किया जाता है। सारे गणितशास्त्र के मन्तव्यों की सत्यता तर्कमूलक है। क्योंकि क है, इसलिए ख है; क्योंकि क नहीं है, इसलिए ग नहीं है, गणित में सत्य की यही कसौटी है। कुछ बातों को स्वत: सिद्ध मान लिया गया

है, जैसे 'यदि दो चीज़ें किसी तीसरी चीज के बराबर हों तो वह एक दूसरे के बराबर होंगी। 'बस' इन थोड़े से स्वतः सिद्ध सिद्धान्तों के आधार पर सारा तर्क खड़ा होता है। तर्क के द्वारा यह सिद्ध हुआ है कि प्रत्येक त्रिभुज के तीनों कोणों का योग दो समकोणों के बराबर होता है। किसी त्रिभुज को देखते ही हम मान लेते हैं कि इसके कोणों का योग दो सम-कोण है। एक बार मूल सिद्धान्तों को मान लेने पर बहुत-सी बातों की सत्यता-असत्यता तर्क से जानी जा सकती है। जो बात उन मूल सिद्धान्तों से निष्पन्न होती है वह सत्य है, जो नहीं निकलती वह असत्य है।

अनुभव मूलक परख को ऐतिह्य कहते हैं। इसका आधार है इतिहास, घटनाक्रम। राम ने रावण को मारा, जायसी ने पद्मावत लिखा---इन वाक्यों की सत्यता इसमें है कि यह घटनाएँ घटी थीं। किसी तर्क से यह बात नहीं निकाली जा सकती कि गांधी जी के पिता का नाम कर्मचन्द था। ऐतिह्य परीक्षा कुछ तो हम स्वयं करते हैं, कुछ आप्त पुरुषों की बात को मान लेते हैं। सायण को वेदभाष्य लिखते मैंने नहीं देखा परन्तु ऐसे लोग जो देख सकते थे और जहाँ तक मैं जानता हूँ मिथ्यावादी न थे ऐसा लिख गये हैं, इसलिए मैं इसे सत्य मान लेता हूँ। बहुधा हम ऐसी बातों में भी आप्त वाक्य को ऐतिह्य प्रमाण मान लेते हैं जहाँ स्वयं परीक्षा करना सुकर है। कितने लोगों ने १९×७=१५३ को गिनकर देखा है? अपने मुँह के बत्तीस दाँतों को कितने लोगों ने गिना है? जिन वाक्यों में सार्वभौम रूप का व्यपदेश होता है अर्थात् जिनमें 'सब' के विषय में कुछ कहा जाता है उनकी असत्यता तो ऐतिह्य से सिद्ध हो सकती है पर सत्यता केवल तर्क से पुष्ट हो सकती है। 'सब त्रिभुजों के कोण दो समकोणों के बराबर होते हैं' में सार्वभौम व्यपदेश है। यदि हमको एक भी ऐसा त्रिभुज मिल जाय जिसके कोणों का योग दो समकोणों से कम या अधिक हो तो वाक्य की असत्यता सिद्ध हो जायगी परन्तु अनुभव इसकी सत्यता सिद्ध नहीं कर सकता। अनुभव के बल पर

इसकी सत्यता की परख तब हो जब हम एक ओर तो विश्व के सब त्रिभुजों के कोणों के योगों की परीक्षा करें, दूसरी ओर विश्व भर की उन समस्त सभुज आकृतियों को, जिनके कोणों का योग दो समकोणों से कम या अधिक होता हो, लेकर देखें कि उनमें से कोई त्रिभुज तो नहीं है। यह काम हमारी शक्ति के बाहर है।

किसी किसी वाक्य की सत्यता की प्रतीति हमको एक विशेष प्रकार के अनुभव द्वारा होती है। इसे प्रातिभ कहते हैं। इसकी सबसे बड़ी विशेपता यह है कि यह सदा स्वगत रहता है, दूसरे किसी को इसका भोक्ता नहीं बनाया जा सकता। किसी मनुष्य को देखते ही चित्त में एक ऐसी भावना उठती है जिसको हम इन शब्दों से व्यक्त कर सकते हैं 'यह मनुष्य बड़ा दुष्ट है'। उस समय तक हमको उसके किसी दुष्कर्म्म का पता न हो पर हमारे लिए यह वाक्य सत्य है। घटनायें पीछे से इस सत्यता का समर्थन कर दें पर हमको तो प्रातिभ अनुभव से ही पहली सूचना मिली थी। प्रयोक्ता के लिए सत्य होते हुए भी ऐसे वाक्य श्रोता के लिए असत्य हो सकते हैं।

वह शास्त्र-चर्चा, जिसकी ओर यहाँ थोड़ा-सा संकेतमात्र कर दिया गया है, किसी-किसी को रूखा और अनावश्यक प्रतीत हो सकता है। वस्तुतः यह बात नहीं है। जिस उपकरण से काम लिया जाता है उसके सम्बन्ध में जितनी ही जानकारी होगी उतना ही उसका उपयोग अच्छा होगा। कुशल चालक अपनी मोटर के कल-पुर्जों की बनावट को भी समझता है। प्रत्येक वाक्य पर रुकने की ज़रूरत नहीं है परन्तु जो लोग भाषा जैसे सूक्ष्म यंत्र से काम लेना चाहते हैं, उनको चाहिए कि इस प्रश्न का भी अध्ययन करें कि शब्द, वाक्य, और अर्थ में क्या सम्बन्ध है, किसी वाक्य की सत्यता या मिथ्यात्व की जाँच किन कसौटियों पर हो सकती है, सत्य किसे कहते हैं, उस जगत् का स्वरूप क्या है जिसके अंग श्रोता वक्ता दोनों हैं तथा उस जगत् में वक्ता का स्थान क्या है। मूर्ख

और पण्डित सभी बोलते हैं परन्तु भाषा के भीतर विश्व का रहस्य छिपा है।

यह एक रोचक प्रश्न है कि नञात्मक वाक्यों की, उन वाक्यों की जिनके व्यपदेश में 'नहीं' होता है, सत्यता कैसे परखी जाती है। यदि कोई कहे कि 'यह कपड़ा लाल है' तो इस वाक्य की तो ऐतिह्य परीक्षा हो सकती है परन्तु 'यह कपड़ा लाल नहीं है' में हम क्या करते हैं। 'लाल नहीं' हरे-पीले की भाँति कोई स्वतन्त्र सत्ता रखता है या लाल का अभाव मात्र है? किसी वस्तु को देखकर हमारे अनुभव का स्वरूप कैसा होता है—'यह पीली है', 'यह हरी है', 'यह श्वेत है', इत्यादि या 'यह लाल नहीं है' 'यह लाल नहीं है, 'यह लाल नहीं है'? यदि 'लाल नहीं' स्वतन्त्र रूप से अनुभवगत नहीं है तो उसका कपड़े में व्यपदेश कैसे होता है और जिस वाक्य में वह आता है उसकी सत्यता कैसे जाँची जाती है?

ऐसे भी वाक्य होते है जिनके लिये सत्य-असत्य का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि उनमें वस्तुतः कोई व्यपदेश नहीं होता। जानकर या बेजाने, लिखने-बोलने में ऐसे वाक्य बहुत आते हैं। कोई कहता है 'यह जगत् मृगमरीचिका या आद्यन्तहीन रौद्ररस प्रधान नाटक है'। सुनने में वाक्य अच्छा लगता है परन्तु है इसमें केवल शब्दाडम्बर। यदि जगत् को मृगमरीचिका कहा जाता तो एक बात थी, उसे आद्यन्तहीन रौद्ररस प्रधान नाटक कहा जाता तो भी एक बात होती। दोनों अवस्थाओं में हम किसी न किसी प्रकार कथन की सत्यता की परीक्षा करते पर इस 'या' ने सब बिगाड़ दिया। वस्तुतः इस वाक्य में जगत् के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा गया है, 'या' के द्वारा वक्ता की मानस द्विविधा, अस्थिरता, अनैकान्तता निःसन्देह व्यक्त हो रही है।

हम कह आये हैं कि बहुत से वाक्यों की सत्यता तर्क के द्वारा निर्णीत होती है परन्तु तर्क के मूल में जो सिद्धान्त होते हैं उनकी सत्यता का कोई पुष्ट आधार बताना कठिन है। इसका क्या प्रमाण है कि यदि दो चीजें किसी तीसरी चीज़ के बराबर हों तो वह एक दूसरे के बराबर होंगी?

किसने सारे विश्व में इसकी परीक्षा की है? पर यदि यह सार्वभौम नहीं है तो फिर दूसरे वाक्यों के लिए कसौटी नहीं हो सकता। इसलिए लेखक और वक्ता को चाहिए कि यथासम्भव ऐसे वाक्यों का प्रयोग न करे जो केवल उसको स्वतः सिद्ध प्रतीत होते हों, क्योंकि यदि वह दूसरों को भी स्वतः सिद्ध प्रतीत न हुए तो फिर वह और उनके आधार पर खड़े दूसरे वाक्य असत्य प्रतीत होंगे।

कुछ वाक्यों की सत्यता वक्तृसापेक्ष्य होती है। वह सब वाक्य जिनमें अब, वह, यहाँ जैसे आत्मसापेक्ष शब्द आते हैं इसी वर्ग के होते हैं। एक का अब दूसरे का तब है, एक का यह दूसरे का वह है, एक का यहाँ दूसरे का वहाँ है। यही गति ऊपर, नीचे, दहिने, बायें, आगे, पीछे की है। इनका प्रयोग करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि पढ़ने या सुनने-वाले के लिये इनके द्वारा बने वाक्यों का अर्थ सत्य नहीं हो सकता। इन शब्दों से काम लेना ही पड़ता है पर काम लेने का ढंग ऐसा होना चाहिए कि उससे इनकी एकदेशीयता छिप न जाय।

सच बात तो यह है कि ऐसा वाक्य बोलना या लिखना बहुत कठिन है जिसकी सत्यता सार्वभौम, निर्विवाद और निरपेक्ष हो। हम 'साढ़े तीन' का ग्रहण बुद्धि से कर सकते हैं: वह तीन और चार का मध्य-बिन्दु है। इसी प्रकार 'तोला' भी बुद्धि ग्राह्य है पर जब हम किसी सोने के टुकड़े के विषय में यह कहते हैं कि 'इसका तौल ३॥ तोला है' तो यह वाक्य पूर्णतया सत्य नहीं है। आज तक ऐसा कोई तराजू नहीं बना जो ठीक ३॥ तोला बतला सके। जितने ही अच्छे तराजू से हमने काम लिया होगा उतना ही हमारा वाक्य सत्य के समीप पहुँचेगा परन्तु सोने के टुकड़े का तौल ठीक ३.५ तोला न होकर ३.४ और ३.६ के बीच में कहीं होगा। गोल के परिधि को हम समझते हैं और व्यासार्ध को भी समझते हैं। यह भी समझते हैं कि व्यासार्ध और परिधि की लम्बाई में कोई निश्चित सम्बन्ध है पर इस सम्बन्ध की सूचना जिस किसी अंक से दी जाय वह पूर्णतया सत्य न होगा। इस एक चीज़ को समय समय पर

३.१६२२७........अनन्त, ३.१८२८५........अनन्त और ३.१८१५९........अनन्त से प्रकट किया गया है। इन्द्रिय और यत्र की शक्ति और अधिक बढ़ने से इसी कोटि की कोई और संख्या दी जा सकेगी पर वह भी इदमित्थमेव रूप से ठीक न होगी।

हमने ऊपर इस बात पर बार बार ज़ोर दिया है कि भाषा सार्वजनिक सम्पत्ति है और उसका अर्थ सार्वजनिक अनुभव का विषय होता है परन्तु नये शब्द और पुराने शब्दों के नये प्रयोग को नई कृति भी कह सकते हैं। वह व्यक्ति विशेष की ओर से समाज को देन होता है। इस कृति की आवश्यकता इसीलिए पड़ती है कि उस व्यक्ति को कोई ऐसी अनुभूति होती है जिसकी व्यंजना किसी विद्यमान शब्द से नहीं होती। अनुभूति मानस-क्षेत्र में भी हो सकती है और इन्द्रियगोचर जगत् में भी। दोनों ही अवस्थाओं में वह अनुभूति इस द्रष्टृदृश्यात्मक विश्व का अंग होगी। पूर्ण ज्ञान तो तब ही हो सकता है जब द्रष्टा को समस्त दृश्य का अपरोक्ष ज्ञान हो; जब, दूसरे शब्दों में, द्रष्टा और दृश्य का भेद ही मिट जाय। ज्ञान की उस सर्वोच्च भूमिका तक पहुँचने के पहिले जो भी ज्ञान होगा वह अपूर्ण होगा, हम सत्य का जो भी स्वरूप स्थिर करेंगे वह सदोष होगा। जितना ही हमको द्रष्टा के स्वरूप और उसके व्यापार का, दृश्य के स्वरूप और उसके विस्तार का, तथा द्रष्टा और दृश्य की क्रिया-प्रतिक्रिया का बोध होता है उतना ही हमारे ज्ञान की कमी पूरी होती है। प्रत्येक नई अनुभूति हमको पूर्ण सत्य के कुछ निकट ले चलती है। कवि, वैज्ञानिक, योगी, दार्शनिक सभी पृथक् मार्गों से उसी लक्ष्य की ओर बढ़ रहे हैं। इस लम्बी यात्रा में प्रत्येक नया शब्दव्यूह, जो किसी वास्तविक नई अनुभूति के द्योतन के लिए रचा जाता है, प्रगति का सूचक होता है। वह सड़क के किनारे लगे उस पत्थर के समान होता है जो यह बतलाता है कि बटोही कितनी दूर चल चुका है। परन्तु उसमें पत्थर से एक विषमता होती है। पत्थर केवल चले मार्ग की नाप बताता है, शब्द नये मार्ग का आदिबिन्दु बन जाता है। विचार की धारा के आग

बढ़ने से नये शब्दों का निर्माण होता है परन्तु प्रत्येक ऐसे शब्द से एक नई विचार-धारा फूट पड़ती है। एक विचार दूसरे विचारों से टकराता है, दोनों मिलते हैं, एक से दूसरे पर प्रकाश पड़ता है, इस प्रकार अर्थ में विशदता, गम्भीरता, विश्वतो मुखता आती जाती है। उधर शब्द भी प्रतिदिन गौण अर्थों को अपनी परिधि में लेता जाता है। ज्यों-ज्यों उसकी ध्वनि व्यापक होती जाती है त्यों-त्यों उसकी प्रभावक शक्ति बढ़ती जाती है। शब्द और अर्थ की यह समानान्तर वृद्धि मनुष्य को उस ज्ञान की ओर संकेत करती है जिसमें ज्ञाता और ज्ञेय में भेद नहीं रह जाता, उस सत्य कीओर बढ़ाती है जिसमें वाच्य वाचक एक हो जाते है।

परन्तु नये अर्थ के लिए नये शब्द का निर्माण करना सुकर नहीं होता। या तो किसी पुराने शब्द से ही काम लिया जाता है या कुछ पुराने शब्दों को मिलाकर नया शब्द बनाया जाता है या किसी पुराने धातु से व्याकरण के नियमों के अनुसार नया शब्द बनाया जाता है। कुछ भी किया जाय, नया शब्द पूर्णरूपेण नया नहीं हो पाता, वह जन्म से ही पुराने अर्थ को ध्वनि रूप में ओढ़े आता है। आज से सहस्रों वर्ष पहले साँस को प्राण कहते थे। पीछे चलकर एक नई अनुभूति के लिए शब्द की खोज हुई। हमारे सारे शरीर में नाड़ियों का जाल बिछा हुआ है। इनके ही द्वारा हमको बाहरी विषयों का ज्ञान होता है और हम बाहरी वस्तुओं पर कोई क्रिया करने के लिये अपनी कर्म्मेन्द्रियों को प्रवृत्त कर सकते हैं। जब तक यह नाड़ियाँ प्रस्फुरित होती रहती हैं तब तक चित्त चंचल रहता है। इनमें जो शक्ति दौड़ती रहती है यदि वह इनमें से खींच ली जाय तो यह स्तब्ध हो जायँगी और चित्त भी बहुत कुछ शान्त हो जायगा। इसी उद्देश्य से योगी अभ्यास करता है। नाड़ियों में दौड़नेवाली शक्ति के लिए नाम की आवश्यकता थी, किसी अभागी घड़ी में उसे 'प्राण' कह दिया गया। तब से आज तक प्राण का पिण्ड न छूटा। योग के आचार्य्य कुछ भी कहें परन्तु सामान्यतः यही समझा जाता है कि प्राण का अर्थ

साँस है और उसके लिए मरुत्, श्वास, वायु, पवन, मातरिश्वा जैसे नाम बराबर लिखे-बोले जाते है। एक स्थान से दूसरी जगह आने को 'चलना' कहते है। हमारा चलना सकल्पपूर्वक होता है। अतः इस शब्द से संकल्प-पूर्वकता की ध्वनि निकलती है। अब यदि हम बिजली का चलना, रेल का चलना आदि प्रयोग करते है तो साधारणतः यही भावना अव्यक्तरूप से रहती है कि इनके भीतर भी किसी का संकल्प काम कर रहा है। हम जब कोई काम करते हैं तो ऐसा अनुभव होता है कि पहले चित्त में सङ्कल्प उठता है फिर पेशियों में शक्ति का संचार होता है। किसी वस्तु को ऊपर उठाने या गिरने से रोकने में, पास खीचने या दूर हटाने में, वस्तु की ओर जाने या वस्तु की ओर से हटने में, दूरस्थ व्यक्ति को बुलाने में, शरीर के किसी न किसी अवयव में शक्ति दौड़ती है। जब विज्ञान ने ताप, विद्युत्, रसायन, प्रकाश जैसे दृग्विषयों का अध्ययन किया तो उसको एक ऐसे पदार्थ का परिचय मिला जो प्रस्थान भेद से अनेक रूपों मे परिणत होता रहता है और किसी न किसी रूप मे प्रायः सभी भौतिक घटनाओं में विद्यमान रहता है। दुर्भाग्य से उसे 'शक्ति' का नाम दिया गया। ऐसा नाम देने का कारण तो स्पष्ट ही है, पर इस नामकरण ने अब तक विज्ञान के वातावरण को दूषित कर रक्खा है, शरीरधारी शक्ति नाड़ितन्तुओं और पेशियों के द्वारा काम करती है, शरीर के एक भाग से दूसरे भाग तक पहुँचने के लिए उसे कहीं भी शून्य में नहीं कूदना पड़ता। बस इसी प्रकार 'शक्ति' शब्द को सुनने से यह भावना होती है कि विश्व में भी किसी न किसी प्रकार का झीना माध्यम तो सर्वत्र फैला ही होगा। अच्छे-अच्छे विज्ञानाचार्य्यों ने ऐसे माध्यम की खोज में वर्षो सिर खपाया है और इसके काल्पनिक गुणों की गाथा गाई है। इतना ही नहीं, शक्ति के पीछे शक्त और उसका संकल्प होता है, संकल्प के पीछे चेतना होती है। बस, इस एक शब्द के प्रयोग करने से विचार के लिए एक नया क्षेत्र मिल जाता है। शक्ति किस माध्यम में चलती है, उसका संचार अन्धा, निरुद्देश्य, आकस्मिक है या किसी चेतन व्यक्ति के

संकल्प के अनुसार? उस व्यक्ति ने ऐसा संकल्प क्यों किया? क्या वह उसे बदल सकता है ?

पुराने अर्थों के बोझ से न दबने का एकमात्र यही उपाय है कि किसी ऐसे स्वर से काम लिया जाय जो न तो किसी कोष में मिलता हो न व्याकरण के किसी नियम के अनुसार व्युत्पन्न हुआ हो। लिखते समय भी वर्णमाला के अक्षरों का व्यवहार न करके कोई नया चिह्न निकाल लिया जाय। यदि शक्ति की जगह 'ग्युङ्' या 'प्लुबड्' या 'व' जैसे किसी स्वर से काम लेते और उसको लिखने के लिए गणित के + —जैसे चिह्नों की भाँति कोई चिह्न बना लेते तो सुविधा होती। इन संकेतों के साथ किसी गौण अर्थ, किसी ध्वनि, का संमिश्रण न होता। यह कोई नई बात नहीं है। तन्त्र के ग्रंथों में ऐसे संकेतों से बराबर काम लिया जाता है। 'काली शंकर' सुनने से अनेक भावों का उदय होता है परन्तु इनके बीज 'क्रीं गीं' में वह बात नहीं है। भावना के ऊपर उठकर स्वर पर चित्त को एकाग्र करके जप किया जा सकता है। पर ऐसे बीजों से भाषा नहीं बनती।

एक दो शब्द करोड़ों मनुष्यों की मनोवृत्ति को बदल सकते हैं। सभी भारतीय दर्शनों का यह मत है कि जीव अपने कर्म्म का फल भोगता है। किसी शरीर विशेष से जिन फलों का भोग करना होता है उनको 'प्रारब्ध' कहते हैं। मुसलमानों के साथ 'क़िस्मत' शब्द देश में आया। क़िस्मत में भी प्रारब्ध की भाँति अवश्यम्भोग्यता है पर वह किसी बाहरी शक्ति की इच्छा का परिणाम होती है। प्रारब्धवादी में आत्मनिर्भरता होती है। क़िस्मतवाद पराश्रय सिखलाता है, धीरे-धीरे हमारे यहाँ प्रारब्ध की जगह, कम से कम उसके साथ-साथ, क़िस्मत का भी व्यवहार होने लगा और भाग्य या प्रारब्ध का अर्थ क़िस्मत जैसा ही होने लगा। इसी से लोग ऐसा कहने और मानने लगे—होइहि सोइ जो राम रचि राखा। को करि तर्क बढ़ावै शाखा। यह वाक्य अशास्त्रीय, धर्म्म-विरुद्ध है पर विद्वान् लोग भी इसे या इसी के समान दूसरे वाक्यों को पढ़ते-पढ़ाते हैं। यह वस्तु-

स्थिति हमारी अवनतिशील मानस अवस्था का कारण और कार्य्य दोनों है। एक दूसरा शब्द लीजिये। सारे ऋग्वेद में 'ईश्वर' शब्द नहीं मिलता। यदि श्रौतवाङ्मय में कहीं आ भी गया है तो रुद्र के अर्थ में, इसीलिए वेद की मीमांसा करनेवाले जैमिनि ईश्वर के अस्तित्व को नहीं मानते और परम आस्तिक कपिल भी ईश्वर की सत्ता को असिद्ध कहते हैं। योग-दर्शन का ईश्वर जगत् का रचयिता और पालयिता नहीं है, न्याय का ईश्वर जगत् का आरम्भक है परन्तु वह स्वभावतः जीवों के कर्म्मों के विरुद्ध नहीं जाता। इसी लिए पहले परमात्मा शब्द का व्यवहार अधिक होता था। हिन्दुओं के राजनीतिक और सांस्कृतिक पतन के साथ-साथ ईश्वर का व्यवहार बढ़ा क्योंकि मुसलमानी 'खुदा' के जोड़ में यही बैठ सकता था। शब्द के साथ अर्थ भी आया। ईश्वर का अर्थ है स्वामी, मालिक। यह शब्द भी व्यवहार में आने लगे। मैं यदि अपने घर का स्वामी हूँ तो उसमें जो चाहूँ कर सकता हूँ। इसी प्रकार यदि कोई ईश्वर है तो वह जगत् में जो चाहे कर सकता होगा। इससे यह परिभाषा बन गई कि ईश्वर 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम् समर्थः' है—जो चाहे करे, न करे, उलट दे। अब जगत् ऋत और सत्य रूपी अटल नियमों के अधीन न होकर एक सर्वशक्तिमान ईश्वर के अधीन माना जाने लगा। यदि मैं स्वामी हूँ तो अपने भृत्यों को उनके काम का उचित पारिश्रमिक भी दे सकता हूँ, किसी पर विशेष रूप से प्रसन्न होकर उसे अधिक पुरस्कार भी दे सकता हूँ, यदि मेरे पास धन है तो इतना भी दे सकता हूँ कि फिर उसे नौकरी करने की आवश्यकता ही न पड़े। इसी भाँति जब जगत् में एक ईश्वर है तो जीव उसका दास, सेवक, किंकर है। पिछले चार-पाँच सौ वर्षों की स्तुतियों में इन शब्दों की भरमार है। वेद में सहस्रों स्तोत्र हैं पर उनमें कहीं ऐसी दीनता, ऐसा नाक रगड़ना नहीं देखा जाता। ईश्वरवादी की बुद्धि में ऐसी दुर्बलता भर जाती है। वह अपने पाँव पर खड़ा होना भूल जाता है। ईश्वर कर्म्म का फल तो देता ही है पर जिसकी चाटुकारिता पर रीझ जाय उसको क्षण भर में सब दुःखों के ऊपर उठा सकता है,

जीवनमुक्त बना सकता है। सत्कर्म्म अच्छी चीज़ है पर उससे बढ़कर महत्त्व इस बात का है कि हाथ जोड़कर, दीनता दिखलाकर, उस ईश्वर को प्रसन्न किया जाय। वह खड़े-खड़े बड़े से बड़े पापों को क्षमा कर सकता है। इसलिए कर्म्म-सिद्धान्त ऊपर से तो बना रहा पर उसकी जड़ कट गई। लोगों में आत्मनिर्भरता की मात्रा कम हो गई। यह धारणा बँध गई कि आजकल के लोग ज्ञान और योग के अधिकारी नहीं हैं। यह दो शब्द उदाहरण मात्र है। ऐसे और भी प्रयोग मिलेंगे। अँगरेज सरकार ने भारतीयों के लिए 'नेटिव' जैसे जुगुप्सासूचक शब्दों का निरन्तर प्रयोग करके भारतीय जनता के चित्त में बहुत दिनों तक यह धारणा दृढ़ कर दी थी कि भारतीय अँगरेज़ों से छोटे और नीचे होते हैं।

भाषा की शक्ति का यह दिग्दर्शन मात्र है। पानी में पत्थर फेंकने से जो लहर बनती है उसका घेरा बढ़ता ही जाता है, इसी प्रकार शब्द की ध्वनि, उसका अर्थविस्तार बढ़ता जाता है। लिखने की कला ने भाषा की शक्ति को और भी बढ़ा दिया है। कुशल प्रयोक्ता के हाथों में भाषा अमोघ शस्त्र का काम देती है। इसलिए बोलनेवाले को, शब्द निर्माण करनेवाले को बहुत ही सतर्क रहना चाहिए। नया शब्द, शब्द का नया प्रयोग, ज्ञान और संस्कृति के क्षेत्र में अपरिमित परिवर्तन कर सकता है। वह ऊपर उठा सकता है और नीचे गिरा सकता है; हृदय को सङ्कोच की ओर ले जा सकता है और औदार्य्य की ओर ले जा सकता है; नानात्व में एकत्व का दर्शन करा सकता है और एकत्व को नानात्व से दबा सकता है। भाषा भ्रान्ति भी उत्पन्न करती है और सत्य की झलक भी देती है इसीलिए वाणी के प्रयोक्ता का बहुत बड़ा दायित्व है। आज, जब कि हम भारत में संस्कृति के नये उषःकाल के प्रभाक्षेत्र में प्रवेश कर रहे हैं, प्रत्येक विद्वान्, प्रत्येक विचार प्रवर्तक, प्रत्येक कवि को अपने इस दायित्व का सतत स्मरण रखना चाहिए।

मैंने भाषा-सम्बन्धी दार्शनिक समस्याओं की ओर संकेत करते हुए सत्य और मिथ्या का कोई लक्षण नहीं बतलाया था। यह प्रश्न है भी

बहुत गहन परन्तु कोई भी कवि, अर्थात् कोई भी ऐसा व्यक्ति जो साहित्य की सृष्टि करना चाहता है, इस ओर उपेक्षा भाव नहीं रख सकता। परमात्मा को वेदों ने पुराण कवि कहा है। काव्य-रचना करते समय कवि अपने छोटे क्षेत्र में वही काम करता है जिसे हिरण्यगर्भ विश्व में करता है। असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती। जगत् का बीज पहले भी था परन्तु अपने ज्ञानरूपी तप से उसका साक्षात्कार करके हिरण्यगर्भ उसको विस्तार देता है। कवि भी यही करता है। वह भी उसी तथ्य को अभिव्यक्ति देता है जो उसको वाह्यजगत् और अन्तर्जगत् के एकनिष्ठ अध्ययन रूपी तप के द्वारा अनुभूत होता है। कवि कल्पना से काम लेने का अधिकार रखता है परन्तु कल्पना निरंकुश न होनी चाहिए। उसका लक्ष्य भी सत्य ही होना चाहिए। एक बात और स्मरण रखने योग्य है। जगत् में करोड़ों वस्तुएँ हैं, करोड़ों घटनाएँ होती रहती हैं। उनका यथातथ्य चित्रण कर देना, फ़ोटो खींच देना ही सत्योपासना नहीं है। इतना ही काम कवि का नहीं है, केवल बुराइयों को सामने ला देनेवाला तो गांधी जी के शब्दों में नाली साफ़ करनेवाला दारोग़ा है। चित्रण हो, कल्पना की जाय, पर क्यों? इसका उत्तर महाभारत की यह पंक्ति देती है :—यल्लोकहितमत्यन्तं, तत्सत्यमिति नः श्रुतम्। यही बात सौन्दर्य्य के सम्बन्ध में है। कहा जाता है कि कवि सौन्दर्य की सृष्टि करता है। ठीक है, प्रकृति भी सौन्दर्य की सृष्टि करती है। परन्तु प्रकृति ऋत और सत्य की परिधि के बाहर नहीं जाती। जगत् के मूल में जो तत्व है उसको सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् कहा गया है। जो सत्य नहीं है वह सुन्दर नहीं है और जो शिव नहीं है वह सत्य नहीं है। जिससे तू मैं का विरोध क्षीण होता है और अभेद-भावना की पुष्टि होती है वही शिव है। लेखनी रूपी महास्त्र का प्रयोग करते समय, भाषारूपी महामंत्र से काम लेते समय, इसका सतत ध्यान रखना चाहिए। यही विद्वान्, वक्ता और कवि का दायित्व है। इस सम्बन्ध में एक और बात अविस्मरणीय है। जान-बूझकर वितथ का प्रचार करना, लोभ, क्रोध या भय के दबाव में आकर अयथार्थ बात

कहना घोर अशिव है। भाषा का ऐसा प्रयोग पाप है और ऐसी कृति वाग्देवता के शाप से त्रिकाल में दूषित रहती है।

हम जिन शब्दों से काम लेते हैं उनकी शक्ति परिमित प्रतीत होती है परन्तु पुराकाल के आचार्यों ने इस परिमितता की जो परिधि कल्पित की थी वह आज से बहुत बड़ी थी। उनका कहना था कि "एक: शब्द: सम्यग् ज्ञात: शास्त्रान्वित: सुप्रयुक्त: स्वर्गेलोके कामधुग्भवति"—सम्यक् ज्ञात, शास्त्रान्वित, सुप्रयुक्त एक शब्द स्वर्ग और लोक में कामधेनु होता है। साधु प्रयोग पर उनका बहुत जोर था। साधुता का लक्षण यह बतलाया जाता है 'व्याकरण व्यंग्योऽर्थविशिष्टशब्दनिष्टपुण्यजनकताऽवच्छेदको जाति-विशेष:' शब्द साधु तब होता है जब वह शिष्ट पुरुषों की पद्धति का अनुसरण करके उस अर्थ के द्योतन के लिए प्रयुक्त होता है जो व्याकरण-सम्मत है और उससे व्यञ्जित होता आया है। ऐसा प्रयोग पुण्यजनक माना जाता है। मनमाना प्रयोग करने से साधुता नष्ट हो जाती है। इसको यों कह सकते हैं कि साहित्य में परम्परा टूट जाती है और इस बात का विश्वास जाता रहता है कि कोई भी कृति अपने रचयिता के भाव को कुछ काल पीछे आनेवालों तक पहुँचाने में समर्थ हो सकेगी। आजकल साधु-असाधु प्रयोग के प्रश्न का महत्त्व इसलिए बहुत बढ़ गया है कि हमारी भाषा पर इस समय बड़े जोरों के साथ विदेशी प्रभावों का आक्रमण हो रहा है। हममें से बहुतों की शिक्षा अँगरेजी में हुई है; सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियों के कारण हमारे मानस-जगत् में सतत उथल-पुथल मची रहती है; हमारा सांस्कृतिक सम्पर्क प्राची और प्रतीची, अतीत और वर्तमान के सभी प्रान्तभूमियों से है। जीवन का साहित्य में प्रतिबिम्बित होना अनिवार्य है। हमको नये भावों को व्यक्त करने के लिए नये शब्दों, नये छंदों, नई शैलियों की आवश्यकता प्रतीत हो रही है। यह विकास स्वाभाविक है क्योंकि यह हमारे बौद्धिक विकास की प्रतिच्छाया है। परन्तु इसके साथ ही सतर्क रहने की भी बड़ी आवश्यकता है। प्रत्येक नया विचार उपादेय नहीं होता। समझदार मनुष्य

समीक्षा करके ही नये विचारों को अपनाता है। विचार के अपनाये जाने का प्रमाण यह होता है कि उसका नयापन जाता रहता है और वह सम्यग्जीर्ण भोजन के समान अन्य विचारों और संस्कारों के साथ मिलकर एक हो जाता है। जब तक ऐसा नहीं हो पाता तब तक चित में अशान्ति रहती है। आज ऐसे बहुत से लोग मिलेंगे जो अपने वैज्ञानिक ज्ञान को अपने साम्प्रदायिक संस्कारों से मिलाकर एक करने में असमर्थ होने के कारण दुखी रहते हैं।

विचारों की अस्तव्यस्तता भाषा में भी प्रतिबिम्बित होती है पर यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि प्रत्येक नया प्रयोग उपादेय नहीं होता। पुराने प्रयोगों, पुरानी शिष्ट शैलियों, को छोड़ देना स्वाधीनता भले ही हो परन्तु हर स्वाधीनता तो अच्छी नहीं होती। स्वाधीनता वहीं तक अच्छी होती है जहाँ तक कि वह स्वेच्छाचारिता और उच्छृङ्खलता का दूसरा नाम नहीं बन जाती। जो स्वाधीनता साहित्य—साहित्यपन को तोड़ती है वह अच्छी नहीं। भाषा में जो प्रयोग केवल विदेशी प्रयोगों के अनुकरण के लिए, केवल नयेपन के लिए, किये जाते है वह असाधु हैं। हमारे प्रमाद से भी कई विदेशी प्रयोग भाषा में घुसकर उसको भ्रष्ट कर रहे हैं। यह विदित-अविदित भूलें भाषा की शक्ति को कुण्ठित करती हैं। हर लेखक को इस सम्बन्ध में सतर्क रहना चाहिए, अन्यथा उसकी कृति हमारे वाङ्मय के साथ एकीभाव, तन्मयता प्राप्त न कर सकेगी और उस सत्य का यथार्थ अभिव्यंजन भी दीर्घकाल तक न कर सकेगी जिसको उद्दिष्ट करके उसकी सृष्टि हुई थी।

भाषा में शक्ति शब्दों से और विषय से आती है परन्तु शक्ति का सब से बड़ा स्रोत लेखक का अन्तःकरण है। जिस कृति को सत्य के दर्शन और लोक के मङ्गल की कामना से स्फूर्ति मिली है वह सजीव और शक्तिमान होगा; जिसकी प्रेरणा किसी अन्य प्रकार से हुई है वह अपनी निर्वीर्यता के बोझ से सदा दबा रहेगा।

विचारजगत् या खपुष्प

लेखकों, कवियों और कलाकारों से निवेदन

हम लोग जो कवि, कलाकार और लेखक हैं, इस बात पर गर्व करते हैं कि हम विचारजगत् के निवासी हैं। यह जगत भूर्लोक से बहुत ऊँचा, बहुत दूर है। यहाँ उन वासनाओं, उन रागों और द्वेषों की पहुँच नहीं होती जो मानव-जीवन को कलुषित बना देते हैं। पृथिवी पर समर और महासमर होते रहें, अबलाओं के माथे का सिंदूर पुँछता रहे और बच्चे दूध के लिए तड़प-तड़पकर मरते रहें, निर्धन की पीठ बेतों से लाल होती रहे और स्वाधीनता के नाम पर दुर्बलों के गलों में पराधीनता की शृङ्खला पड़ती रहे, परन्तु जिस देश के हम नागरिक हैं वहाँ तक इस विक्षोभ की पहुँच नहीं है। वहाँ चिरशान्ति का अखण्ड साम्राज्य है। हममें देशकाल का बन्धन नहीं है। हमारे सनागरिक अमर हैं। उशना, वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, भवभूति, माघ, गुणाढ्य, होमर, फ़िरदौसी, शेक्सपियर, गेटे, उमरख़य्याम, हाफ़िज़, सूर, तुलसी, दान्ते, कबीर इन सब की बराबर गोष्ठी होती रहती है। भला उस चिर सुन्दर, चिर सत्य जगत् को छोड़ कर हम इस पतित भूर्लोक का गीत क्या गायें? कभी-कभी हम अपने को रोक नहीं पाते, तब जिस लोकोत्तर आनन्द का आस्वाद हमको ऊपर मिलता है उसका कुछ वर्णन स्वान्तः सुखाय यहाँ वालों के लिए भी कर देते हैं, उसका कुछ आभास यहाँ तक पहुँचा देते हैं। किसी को हमसे इससे अधिक आशा रखने का अधिकार नहीं है। हम शाश्वत तत्वों के द्रष्टा हैं, पृथिवीतल पर के दैनंदिन झगड़ों में पड़कर, उनकी ओर दृष्टि-पात करके, अपनी प्रतिभा को कलुषित नहीं कर सकते। निर्मल आकाश में विहार करनेवाली कल्पना के धवल पंख यहाँ पसीने और लहू के कर्दम

के स्पर्श से अपवित्र हो जायँगे। कहाँ हृदय के कोमल तारों का मधुर स्वर और कहाँ निदाघ के चण्डवायु से प्रताड़ित नंगों-भूखों के कङ्कालों की कड़कड़ाहट !

सुन्दर स्वप्न है पर है स्वप्न ही। हम भीरु हैं, कायर हैं, इसलिए हठात् अपनी आँखें बन्द रखते हैं, वस्तुस्थिति को देखना नहीं चाहते, स्वप्न देखते रहना चाहते हैं। पर यह अन्धेर कब तक चलेगा ? स्वप्न में देखी बातों का वर्णन कहाँ तक बढ़ाया जायगा ? उससे बच्चों को डराया जा सकता है, थोड़ी देर के लिए वयस्कों का भी मनोरञ्जन किया जा सकता है पर उसमें टिकाऊपन नहीं हो सकता। उसकी नींव पर जो भीत खड़ी होगी वह चार दिन में ढह जायगी। हम भले ही कालिदास और शेक्सपियर की दुहाई दें पर वह अमर कवि हमको अपना सनाभि नहीं मान सकते। इसका कारण यह है कि वह वास्तविकता में चूड़ान्त डूबे हुए थे और हम उससे कोसों दूर भागते हैं। यह बात नहीं है कि हमारी दृष्टि में जगत् की नग्न वास्तविकता कभी आती ही नहीं। आती है, निःसन्देह आती है और जिसकी बुद्धि जितनी ही सूक्ष्म होती है उसको उतना ही अधिक सताती है। आँख की पुतली में मकड़ी का पतला जाला भी गड़ता है। हम भी भूखों को तड़पते देखते हैं। हम भी नंगों को ठंड से साँस तोड़ते देखते हैं। श्रमिक का शोषण हमारी आँखों के सामने भी होता है। जिनका एकमात्र अपराध यह है कि वह अपने देश को स्वतंत्र और अपने देशवासियों को मनुष्य बनाना चाहते हैं उनको हमने जेलों में भरे जाते देखा है; हमारे सामने उन पर बेतें और लाठियाँ पड़ी हैं, गोलियाँ बरसी हैं, उनके धन लुटे हैं, उनके निराश्रय कुटुम्बी भिखारी हो गये हैं। कुछ लोगों की कोठियाँ धनधान्य से भरपूर रहें इसलिए करोड़ों के घर उजाड़े जाते हैं। जो दरिद्र और दलित थे, हैं और रहेंगे उनको स्वाधीनता, लोकतंत्र और विश्व-शान्ति के नाम पर समराग्नि में बरसाती कीड़ों की भाँति झोंका जाता है। और यह सब हमारे सामने होता है। पुस्तकों के, समाचारपत्रों के,

रेडियो के द्वारा निर्दयता, प्रतिहिंसा, असहिष्णुता की धारावाहिक शिक्षा दी जा रही है, असत्य का दुर्भेद्य वायुमण्डल जन-साधारण की बुद्धियों को दबाये डाल रहा है। और हम यह सब देख रहे हैं।

हम सब कुछ देखते हैं, सब कुछ सुनते हैं, फिर भी चुप रहते हैं, क्योंकि जिन लोगों को इस सारे दुष्ट व्यापार से लाभ हो रहा है उनके यहाँ से दो चार टुकड़े हमको भी मिलते रहते हैं। रेडियो पर हम ही—या हमारे वह भाई जो व्यासपीठ पर बैठकर अध्यापन के काम में प्रवृत्त हैं—बोलते हैं, पत्रकार हम ही हैं, चित्रकार हम ही हैं, पुस्तक रचयिता हम ही हैं। शासक और पूँजीपति चाहे जैसे हों पर हमारे गुणों के ग्राहक हैं। हममें से जिस किसी को उनकी कृपा नहीं प्राप्त होती वह अविलम्बेन नंगों भूखों की कोटि में जा पड़ता है। जिस पद्धति से हमारा पोषण हो रहा है उसे आपाततः सदोष कैसे कहा जाय? पूँजीवाद और साम्राज्यवाद के समर्थक कहते हैं कि जगत् अविराम जीवन-संग्राम का क्षेत्र है। जो योग्य है वह जीतता है, जो अक्षम है वह हारता है। यही मनुष्य जाति की उन्नति की कुञ्जी है। हमको इस कथन में वैज्ञानिक सत्य प्रतीत होता है। यह जो पतित, दलित, शोषित, पीड़ित, दण्डित प्राणी हैं वह जीवन-संग्राम में हारे हुए सैनिक हैं। इनकी यह गिरी अवस्था इनकी अक्षमता का प्रमाण है। हम और हमारे पीठ पर हाथ रखनेवाले धनी-मानी विजेता, मानवजाति के अग्रणी, कुशलकर्मा व्यक्ति हैं। हम निकम्मों पर दया कर सकते हैं परन्तु उनको अपना उपास्य नहीं बना सकते। और फिर इस व्यवस्था से उलझकर होगा भी क्या? प्रारब्ध कहिए, नियति कहिए, अन्धप्रकृति कहिए, द्वन्द्वात्मक विकास के अकाट्य नियम कहिए, चाहे जो नाम दे लीजिये, चाहे जो मत स्वीकार कीजिये, पर जो होना है वह होकर रहेगा। फिर इस पत्थर की दीवार से सिर टकराना कौन-सी बुद्धिमत्ता है? हम इससे उलझकर अपनी क्षति तो कर सकते हैं पर जगत् जैसा है वैसा रहेगा। जो अदृश्य शक्तियाँ इसका सञ्चालन कर रही हैं वह समय आने पर इसे आप ही बदल देंगी। एक और बात

है। काजल की कोठरी में कैसा भी सयाना जाय, काजल की लीक लग ही जाती है। यदि हम दलितों और शोषितों के पङ्किल क्षेत्र में उतरें तो फिर हमारा आदर्श भी ठीक न रह सकेगा। हमारा पवित्र अधिकार और कर्तव्य यह है कि संस्कृति की निर्मल पताका ऊँचे पर उड़ती रहे। जनता तो सहस्रशीर्षा पशु, करालदंष्ट्रा महावृक है। उसमें सरसता, भावुकता, संस्कृति कहाँ? उसके अति सम्पर्क में आने से हम भी गिर जायँगे और जो निधि सहस्रों वर्ष से सुरक्षित चली आई है वह लुप्त हो जायगी। बस, कुछ इसी प्रकार हम अपने को समझा लेते हैं। मैं यह नहीं कहता कि सब लोग इन्हीं शब्दों में तर्क करते हैं। कोई कोई ऐसा भी करता होगा परन्तु हममें से बहुतों को इतना करने की भी आवश्यकता नहीं होती। हमारा काम इस जगत् की वर्तमान व्यवस्था से किसी प्रकार चला जा रहा है। अतः हमारी स्वार्थबुद्धि इसका समर्थन करती है; कम से कम, हमको इसका विरोध नहीं करने देती। हमारी स्थिति उस लोभी पुरोहित जैसी है जो यजमान को पापी और अनधिकारी जानता हुआ भी दक्षिणा की लालच से उसके यज्ञ में भाग लेता है।

फिर भी हम मनुष्य हैं और सहृदय हैं, इसलिए चारों ओर के करुण दृश्यों का प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। फिर हममें अपने भावों के व्यक्त करने की योग्यता भी है। जी नहीं मानता, कुछ कहे बिना रहा नहीं जाता। इसलिए हम कभी-कभी कुछ लिख डालते हैं, कह डालते हैं। हमारी रचनाओं में भी उस हाहाकार की, जो सहृदयों के मर्म को बेधे डालता है, कुछ झीनी प्रतिध्वनि सुन पड़ जाती है। कुछ वेदना, कुछ क्रन्दन, कुछ अन्तर्दाह, कुछ अशान्ति, कुछ आशा की झलक हमारी कृतियों में भी मिल जाती है परन्तु अस्फुट, ढँकी हुई। हृदय का वेग मर्यादाओं को नहीं मानता परन्तु हम सभ्यता और शील को हाथ से नहीं जाने देते। कुछ पीड़ित के साथ समवेदना दिखलाते हैं, कुछ प्रपीड़क की भर्त्सना करते हैं, कुछ क्रान्ति का आह्वान करते हैं, कुछ क्षितिज पर नवयुग की रेखा ढूँढ़ते हैं। इससे अपने चित्त का बोझ हल्का हो जाता है और साधिकार पक्ष

भी बहुत स्पष्ट नहीं होता। इतना तो उसे भी पसन्द है कि अशान्ति की थोड़ी बहुत अभिव्यक्ति होती रहे। राजा लोग अपने यहाँ विदूषक रखते थे और उनके मुँह से थोड़ी-बहुत खरी-खोटी भी सुन लिया करते थे।

पर इतने से भी काम नही चलता। एक तो बाहर के अमङ्गल दृश्य हमारे कवच को भेदकर टीसते रहते है, दूसरे कला के लिए विषय भी तो चाहिए। बिना विभाव के तो रस की सृष्टि होती नही। बस इसी लिए हम इस भूलोक को छोड़कर ऊपर विचार-जगत् में जा बसते हैं। वहाँ जो कुछ है, सुन्दर है, नित्य है। पुरुष मरते हैं, स्त्रियाँ मरती हैं, उनकी रतिलिप्सा मरती है, कामक्रीड़ा मरती है परन्तु कवि जिस प्रेम के गीत गाता है वह कभी नहीं मरता। हृत्तन्त्री के टूटे तारों की झनकार भी लाख-लाख दुःखितों के आर्तनाद को दबाने में समर्थ होती है। यह विचार-जगत् कृत्रिम, काल्पनिक है परन्तु यही इसमें सुविधा है। वास्तविक जगत् में विचार को वस्तु-स्थिति से टकराना पड़ता है। इस मुठभेड़ के बाद बहुत से विचारों के शव इधर-उधर पड़े होते है। परन्तु काल्पनिक—मैं भूल करता हूँ, कल्पनामय—जगत् में यह कठिनाई नहीं है। वहाँ विचार स्वच्छन्द घूमते है। जो भौतिक जगत् से जितना ही दूर जा पड़े वह उतना ही बड़ा कलाकार है। व्यास, वाल्मीकि, कालिदास, शेक्सपियर, गेटे, टेनिसन प्रकृति को छोड़ नहीं पाये थे। वह कमल और नदी और सरोवर, चातक और पपीहा और भ्रमर को भूल नहीं सकते थे। हम इन चीज़ों की ओर आँख उठाकर नही देखते। ज्योत्स्ना तो कभी-कभी हमारी खिड़कियों में से भीतर चली आती है परन्तु नक्षत्र-मण्डल के उदयास्त के अस्तित्व को हम स्वीकार नहीं करते। पशु पक्षियों को हमारी कला में स्थान नहीं है। वह प्राणिशास्त्र के विद्यार्थियों के अध्ययन की सामग्री है। हम उस पार की धवल भूमि की कुछ रूपरेखा यहाँ वालों को दिखाना चाहते हैं, इसीलिए कला की सृष्टि होती है परन्तु कला ही कला की कसौटी है।

हम भागनेवालों का यही तर्क है। हमको यह बात नही देख पड़ती

कि हमारे इस विचार-जगत् में उड़ने की उपयोगिता इतनी ही है जितनी कि अफ़ीम घोलने की। अफ़ीम से भी दुःख भूल जाते हैं। हमारा यह दावा झूठा है कि हम अपने विचार-जगत् में सौन्दर्य की अनुभूति प्राप्त करते हैं। सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् को एक दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। जो सुन्दर है वह सत्य भी है और शिव भी है। इसीलिए सत्काव्य रचना के उद्देश्यों में 'शिवेतरक्षति'—अमङ्गल की क्षति—भी परिगणित है। केवल स्वान्तःसुखाय तो होली की गाली बकी जाती है। परम सत्य, परम सुन्दर का साक्षात्कार मंत्रद्रष्टा ऋषियों को हुआ था; व्यास को, श्रीकृष्ण को हुआ था; बुद्ध और महावीर और शंकराचार्य्य को हुआ था; कबीर और नानक और चैतन्य को हुआ था; ईसा और सेण्ट फ्रांसिस को हुआ था। उस सत्य में अनन्त सौन्दर्य है; रसो वै सः—वह अपरिमेय प्रेम और वीर्य्य, करुणा और शान्ति का अगाध पारावार है। और वह निःशेष शिव है। जो उसके समीप पहुँचता है वह अकर्मण्य नहीं रह सकता। निबलों और दुखियों का त्राण उसका सहज व्यापार हो जाता है। यदि आपको भी उसी सत्य की, उसी तत्व की जो इस परिवर्तनशील जगत् का शाश्वत मूल है, कुछ झलक देख पड़ गई है तो फिर आप भी लोकहित के कर्मठ सैनिक होंगे अन्यथा हमको ऐसा मानना पड़ेगा कि आप किसी माया-मरीचिका को मानसरोवर समझ बैठे हैं। सत्यद्रष्टा युद्ध-क्षेत्र छोड़कर भागता नहीं। उसमें जो श्रद्धा, जो स्मृति, जो वीर्य्य, जो वासनाविरह, जो स्फूर्ति ऊपर से आती है उसका लाभ नीचेवालों को मिलता है। प्रतिभा उस वटवृक्ष के समान है जिसकी जड़ भूतल के नीचे होती है और चोटी बादलों से खेलती है; उसमें भूगर्भ से रस आता है और सूर्य्य तथा वायु से प्राण। वह जहाँ तर्क बद्ध है वहीं तक उन्मुक्त भी है। स्वच्छन्द आकाश में विचरने का अवसर न मिलने से वृक्ष रोगी हो जाता है परन्तु पृथ्वी से जड़ कट जाने से उसकी मृत्यु हो जाती है।

यह न कहिये कि आप इस बात को सिद्धान्तरूप से मानते हैं। जिस

समय चारों ओर आग लगी हो उस समय 'आग बुझाना अच्छा है' इतना सिद्धान्तरूप से मानना पर्य्याप्त नहीं होता। करुण रस की उद्दीप्ति के लिए रोम में आग लगवाने वाला नीरो भी सिद्धान्तरूप से आग बुझाने को श्रेयस्कर मानता रहा होगा। सच्ची परख तो यह है कि आप आग लगाने वालों से लड़ रहे है या नहीं और आग बुझाने में लगे हैं या नहीं। कोई तीसरा मार्ग नहीं है। एक ओर प्रपीड़क, शोषक है—दूसरी ओर ओर पीड़ित, शोषित; एक ओर नर-कङ्कालों की पीठ पर उन्मत्त नृत्य, दूसरी ओर भूख की ज्वाला से मरनेवालों की राख के ढेर; एक ओर अधिकार और सम्पत्ति का अट्टहास, दूसरी ओर पिसनेवालों का हाहाकार; एक ओर बलावलेप से अन्धीभूत राष्ट्रीयता और साम्राज्यवाद, दूसरी ओर दीनता और परतंत्रता; एक ओर दानवता, दूसरी ओर मनुष्यता। इस लड़ाई में तटस्थता के लिए जगह नहीं है। आपको दो में से एक सेना का साथ, सक्रिय साथ, देना है, लड़ना है।

यदि आप वर्तमान अवस्था को ठीक समझते हैं तो ऐसा खुलकर कहिए। आप सुखी होंगे। जो आज हमारे भाग्य-विधाता हैं वह आपका स्वागत करेंगे, आपकी कला को ग्राहक मिलेंगे। आपके लिए लक्ष्मी, सरस्वती का पुराना कलह शान्त हो जायगा। परन्तु यदि आप ऐसा मानते हों कि प्रत्येक मनुष्य को आत्माभिव्यक्ति का अधिकार है, सबको अपनी योग्यता के विकास का अवसर मिलना चाहिए, मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण जघन्य है और पृथिवी पर से पराधीनता मिट जानी चाहिए तो फिर आपको इस बात की घोषणा करनी चाहिए। ऐसी घोषणा करने का अर्थ है कष्टों का वरण करना। आप श्रीमानों का सम्मान खो बैठेंगे और आपकी कला दबाई जायगी। सरकारें आपके विरुद्ध होंगी। दरिद्रता, परिवाद, उपहास, कारावास और फाँसी का पुरस्कार मिलेगा। आप सोच लें, आप किसे पसन्द करते हैं। एक ओर सुख है, दूसरी ओर तप। 'दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा' कहनेवाले कलाकार बहुत हैं; तोप और सिंहासन और रुपयों की थैलियोंवाली सेना को लड़ैतों की कब कमी

पड़ती है परन्तु भारती का प्यारा तो इन बातों की ओर नहीं देखता। वह तो सत्य मात्र को जानता और पुकार पुकारकर कहता है। सूली की सेज पर लेटा हुआ समंद के शब्दों में गाता है :—

शुद देर कि अफ़सानए मंसूर कुहन शुद।
वक़्तस्त कुनूँ जल्वः देहम दारोरसनरा॥

अनलहक़ (अहं ब्रह्मास्मि) रूपी सत्य की घोषणा करने के लिए मंसूर को जो फाँसी दी गई थी उसको बहुत दिन हो गये। अब वह समय आया है कि मैं (फाँसी पड़कर) फाँसी के तख़्ते और रस्सी को गौरव प्रदान करूँ।

मैं फिर कहता हूँ कि यह तटस्थ रहने का, मौन रहने का समय नहीं है। मीठी बातों का भी समय नहीं है। जहाँ गलों पर छुरियाँ फेरी जा रही हों वहाँ मधुर उपालम्भ से काम नहीं चलता।

यह न भूलिये कि मैंने विचार-जगत् को असत् नहीं कहा है। मैं भी मानता हूँ कि इस धूलिधूसर व्यवहार-जगत् के सिवाय, इससे ऊपर, एक विचार-जगत् है जो सत्य है, जो इसकी अपेक्षा ध्रुव है। मैं भी मानता हूँ कि उसमें रमण करना चाहिए। मैं भी मानता हूँ कि उसका सन्देश यहाँ वालों को सुनाना चाहिए। मैं भी मानता हूँ कि सब उसमें प्रवेश करने के अधिकारी नहीं होते। मैं भी मानता हूँ कि कलाकार को वहीं से स्फूर्ति मिलती है। पर इसके साथ ही मैं यह भी मानता हूँ कि वह इस भौतिक, जनसंकुल संघर्ष और दुःख के आकर जगत् से नितान्त भिन्न, नितान्त पृथक् नहीं है। मैं ऐसा मानता हूँ कि युद्ध छोड़कर भागनेवाले उस जगत् में नहीं घुस सकते। मैं ऐसा मानता हूँ कि वहाँ वही जा सकता है जो तपस्वी और त्यागी है, जो लोक-संग्रह व्रती है, जो सत्य-सन्ध है। वैदिक ऋषि रोदसी, द्यावा पृथिवी का एक साथ संकीर्तन करता है। पैसे का एक पृष्ठ दूसरे से कैसे अलग किया जा सकता है? मेरा कहना यह है कि यदि हममें से कोई किसी ऐसे विचार-जगत् में

भ्रमण करता है जहाँ इस जगत् के छींटे नहीं पड़ते तो वह भ्रम में है। ऐसा कोई जगत् नहीं है। इस जगत् की अनुभूतियाँ उस जगत् की ओर उठाती हैं और उस जगत् की अनुभूतियाँ इस जगत् के बोझ को हल्का करती हैं। एक और बात है। उस जगत् में सत्य है, सौन्दर्य है पर उस सत्य और सौन्दर्य का प्रत्यक्ष इस जगत् की उपेक्षा करके नहीं हो सकता। जब चारों ओर बर्बरता, संघर्ष, क्रन्दन, अशान्ति होगी तो कला की उपासना क्या होगी? भूखे पेट तो भगवद्भजन भी नहीं होता। भ्रष्ट परिस्थिति में ऊँची कला कैसे अवतरित हो सकती है? आज हम रीति-कालीन कविता की निन्दा करते हैं। हमको इस बात पर आश्चर्य होता है कि प्रतिभाशाली मनुष्य कैसे ऐसी लचर रचना कर गये। पर उन लोगों का क्या दोष था? उस समय हिन्दू परतंत्र थे। सामान्य जनता को मुग़ल और पठान शासक, इन शासकों की छत्रछाया में पनपनेवाले हिन्दू राजे-महराजे और इन राजों-नवाबों के सङ्केत पर थिरकनेवाले जागीरदार सर्दार पीस रहे थे। तत्कालीन कवियों ने इस परिस्थिति को, जो निःसन्देह परिवर्तनशील चीज़ थी, उपेक्षा की दृष्टि से देखा और अमर तत्त्वों को हृदयङ्गत किया। उन्होंने भी प्रेम के गीत गाये, श्रीराधाकृष्ण जैसे पुनीत, शाश्वत, धीरोदात्त आलंबनों को अपनाया। कभी-कभी राजा-महाराजों की निन्दा भी कर दी। फिर भी आज उनकी रचना हमको थोथी लगती है। वह भूलोक की दीनता, दासता, कुचली आकांक्षाओं और अभिहत इच्छाओं की ओर से आँख बन्द करके ऊपर उड़ने चली पर दूर न जा सकी। डोरकटी पतंग की भाँति नीचे गिर गई। ऐसी ही कृत्रिमता उस सारे वाङ्मय में होगी जिसमें सत्य की, ऊपर के शुद्ध विचार-जगत् के सत्य की और नीचे के सुख-दुःखाकुल व्यवहार-जगत् के सत्य की, युगपत् आभा न होगी। जो चाहता है कि उस जगत् में विहार करे उसको इस जगत् को शुद्ध करना होगा। जितना ही यहाँ से पाषण्ड, दुराग्रह, शोषण, द्रोह, दीनता, अशान्ति को दूर किया जायगा उतना ही शाश्वत सत्य और सौन्दर्य का अबाध दर्शन किया जा सकेगा। देवराज

को यत्नपूर्वक पृथिवी पर उतारना होगा। पैप्पलादशाखीय अथर्ववेद संहिता के इस मंत्र को तो देखिये :—

यस्या हृदयं परमे व्योमन् सत्येनावृतममृतम् पृथिव्याः।
सानो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमम्॥ (१७-१-९)

जिस पृथिवी का सत्य से आवृत अमृत हृदय परम व्योम में है वह भूमि हमारे लिए राष्ट्र में उत्तम तेज और बल को धारण करे।

ज़रा देखिये तो। सत्य से आवृत, अमृत, परम व्योम में स्थित।

आपका विचार-जगत् कुछ ऐसे ही विशेषणों का पात्र है या नहीं? यदि है तो आप धन्य हैं। परन्तु वैदिक ऋषि के लक्ष्य में जो वस्तु है वह पृथिवी का हृदय है। शाश्वत है, सत्य से ओत प्रोत है, परम व्योम में टिका हुआ है फिर भी पृथिवी में प्रतिस्पन्दित हो रहा है। इस एक पंक्ति में कितना भावगाम्भीर्य्य, कितनी विचारसामग्री है!

यदि आप सचमुच कला के उपासक हैं तो अपने उपास्य की उपासना के योग्य क्षेत्र बनाइये। यह जगत् तो श्मशान हो रहा है। क्या कला भी कोई पिशाची है जिसको आप श्मशान में शव के ऊपर बैठकर नर-कपाल में शोणितार्घ्य देकर सिद्ध करना चाहते हैं?

यहाँ पर एक आक्षेप किया जा सकता है और किया जाता है। यदि राजा-महाराजा सेठ-साहूकार के हाथ बिक जाना कला को गिराना है तो किसी दल, किसी वाद विशेष, के हाथ बिक जाना भी कोई अच्छी बात नहीं है। कवि और कलाकार को स्वतंत्र रहना चाहिए। किसी दल या वाद का पक्ष लेकर जो रचना होगी वह प्रचार का भले ही काम दे पर उसका साहित्यिक मूल्य साबुन और औषध के विज्ञापन से अधिक न होगा। मैं इस आक्षेप की तथ्यता को स्वीकार करता हूँ, इसलिए आपसे किसी दल या वाद को अपनाने को नहीं कहता। यों आपको स्वतः कोई वाद अच्छा लगे, किसी दल के साथ मन मिले, यह दूसरी बात है। सबके लिए किसी एक मत का होना अनिवार्य्य नहीं है। आपमें कोई हिन्दू है, कोई मुसलमान है, कोई ईसाई है, कोई अनीश्वरवादी है। सबका कुलाचार

एक-सा नहीं, पैतृक अनुभव एक से नहीं। इन बातों के कारण अवश्य ही दृष्टिकोणों में भेद है पर यह भेद कला की सार्वभौमता में बाधक नहीं होता, ये भेद ही तो कला को इन्द्रधनुष-सा सुन्दर बनाते हैं। कालिदास और शेक्सपियर एक दूसरे की प्रतिकृति नहीं हैं परन्तु साहित्यगगन के दोनों ही उज्ज्वल नक्षत्र हैं और हम दोनों से ही रस का पीयूषदान पाते हैं। भेद होते हुए भी दोनों सजातीय, सदेशीय हैं। आज विचार की स्वाधीनता कहाँ है? मन में तो चाहे जो सोचा जा सकता है पर क्या अपना सोचा प्रकट भी किया जा सकता है? जो समाज व्यक्ति और वर्ग-स्वार्थ की नींव पर संव्यूहित है उसमें विचार-स्वातंत्र्य कैसे रह सकता है। यह समझना कि हम स्वतंत्र हैं अपने को धोखा देना है। हमको आज उतनी ही स्वतंत्रता है जितनी कि पिँजड़े में बन्द चिड़िया को होती है। पिँजड़े के भीतर इधर-उधर उड़ने में कोई नहीं रोकता। हम भी तब तक स्वतंत्र हैं जब तक हमारी लेखनी वर्तमान सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था पर, स्थिर स्वार्थों के दुर्ग पर, प्रहार नहीं करती। जहाँ उस दुर्ग की दीवार आरम्भ होती है वहीं हमारी स्वतंत्रता समाप्त होती है। हम कला की मदिरा पीकर भले ही वास्तविकता को भुला दें पर हमारे स्वामी उसे नहीं भूल सकते। वह फूलों की सेज पर सोते हैं पर उन फूलों के नीचे काँटे चुभते रहते हैं। उनके कानों में अपने शिकारों के कराहने का स्वर गूँजता रहता है, वह राख के नीचे छिपी आग को पहिचानते हैं। इसलिए वह ऐसे सहायकों का स्वागत करते हैं जो अपने को स्वतंत्र कहते और समझते हैं। धर्म्माचार्य्यों और लेखनी के धनियों के लिए उनके यहाँ बड़ा आदर है पर इस आदर की क़लई उस दिन खुल जाती है जिस दिन साधु, पुरोहित, विद्वान् और कलाकार निर्भयता के साथ पक्षपात छोड़कर सच्ची बात कहने पर तुल जाते हैं। पूँजी और शासन को ऐसे लोगों की चाह नहीं है। वह उनको समाज के लिये अहितकर समझते हैं क्योंकि वह अपने को समाज, समाज का सार समझते हैं। चक्की ऐसे बेकार जन्तुओं को पीस डालती है।

फिर भी मै आप से नहीं कहता कि आप विचार-स्वातंत्र्य को छोड़ें। यह अमूल्य सम्पत्ति है, इसकी रक्षा प्राणपण से करनी चाहिए। आप किसी दल, किसी वाद को न अपनायें प्रत्युत उसे अपनाये जिसके नाम पर सब दल और सब वाद बनते है। आप मनुष्य मात्र के कल्याण को अपना लक्ष्य बनायें। इस समय कोई एक ही जाति, कोई एक ही राष्ट्र, विपत्ति में नही है। मानवता घिर गई है। पीड़क और पीड़ित दोनों का ही पतन हो रहा है। हमको न भेड़ें चाहिये, न भेड़िये। हम तो मनुष्य चाहते हैं। आप अपनी आवाज़ और अपनी लेखनी को मनुष्य के लिए उठाइये। जहाँ कहीं जो कोई भी शोषक और प्रपीड़क हो उसे अपना शत्रु समझिये, जहाँ कहीं जो कोई भी शोषित और पीड़ित हो उसके सिर पर अपना वरद हाथ रखिये; जो समुदाय, जो दल, जो वाद आपके मार्ग में बाधक हो उस पर निर्भय आघात कीजिये; जो समुदाय, जो दल, जो वाद आपका हाथ बँटाये उसको प्रोत्साहन दीजिये। आज आपकी तुलना उस स्यार से की जाती है जो व्याघ्र के पीछे चलता है। व्याघ्र शिकार करता है और स्यार उसके जूठे छीछड़ों से आत्मतर्पण करता है। आप उठिये, स्वयं सिंह बनिये और भेड़ियों के झुंडों का संहार कीजिये।

यह काम आपके, आपके ही योग्य है। उत्पीड़न के विरुद्ध आज चारों ओर विद्रोह हो रहा है परन्तु विद्रोहियों की शक्ति पर्याप्त नहीं है। उनकी लकड़ियों, तलवारों और पटाखों का उत्तर बम, वायुयान, मशीनगन और तोप से दिया जा सकता है। इस विषम लड़ाई में जीत न्याय की नहीं वरन् गोला-बारूद और रुपयों की होगी। पर आप अजेय हो सकते हैं। आपने वह सोम पिया है जो मनुष्य को अमर बना देता है; आपकी नाड़ियों को ऋत और सत्य प्राणित कर रहे हैं; आप वाणी के लाड़ले हैं; आपने उस ज्योति को देखा है जो सत्य है, सुन्दर है, शिव है, अभय है। आपके सामने स्वार्थ का सिंहासन काँपता है पर आप अपने को भूले हुए हैं। विचार-जगत् की नागरिकता बड़े पुण्य से मिलती है परन्तु इस समय आप खपुष्प पर मँडरा रहे हैं।

सौन्दर्यानुभूति और कला

कुछ ऐसे दृग्विषय हैं जिनको देखकर हृदय में रस का सञ्चार होता है। गगनचुम्बी हिमाच्छादित गिरिशिखर, समुद्र की फेनिल उत्ताल तरङ्ग, प्रपात और निर्झर, तारों से जगमगाता आकाश, शीतल शशिप्रभा— यह सब मनोरम लगते हैं। किसी तूलिका से निकला चित्र, किसी कवि के मुँह से निकले कुछ शब्द, चित्त को बरबस अपनी ओर खींच लेते हैं। हम इन सब में जो मनोहारिता पाते हैं उसको सौन्दर्य कहते हैं। यह सब अपने अपने ढङ्ग से सुन्दर हैं।

सौन्दर्य के सम्बन्ध में वृहत् वाङ्मय है। विशेषज्ञों ने सुन्दर कही जानेवाली वस्तुओं का विश्लेषण करके उन गुणों की तालिका बनाई है जो उनमें पाई जाती है। हमको इस शास्त्रीय विवेचन में पड़ने की आवश्यकता नहीं है। यहाँ इतना ध्यान में रखना पर्य्याप्त होगा कि यद्यपि सममात्रिता, सामञ्जस्य, साधुभाव जैसे बहुत से गुण सहचारी रूप से सुन्दर वस्तुओं में पाये जाते हैं परन्तु सौन्दर्य एक अपूर्व धर्म्म है। इन सहचारियों के अभाव में उसकी अनुभूति प्रायः नहीं होती परन्तु वह इन सब से भिन्न है। उसका सम्बन्ध उपयोगिता से भी नहीं है। ताजमहल की उपयोगिता इतनी ही है कि उसमें एक स्त्री का शव गड़ा हुआ है पर उसकी बनावट में जो सौन्दर्य अनुभूत होता है वह इस उपयोगिता पर अवलंबित नहीं है।

सौन्दर्य की अनुभूति कुछ तो द्रष्टा पर निर्भर करती है, कुछ दृश्य पर। साधारणतः हम किसी न किसी वासना से अभिभूत रहते हैं। वासना रागात्मक हो या द्वेषात्मक, वह वस्तु के स्वरूप पर पर्दा डाल देती है। दृश्य से जितने संवितों का प्रहार इन्द्रियों के द्वारा चित्त पर होता है उनमें से कुछ का ही ग्रहण होता है, शेष तिरस्कृत कर दी जाती हैं। इसलिए अन्तःकरण में एकाङ्गी चित्र ही बन पाता है। इस एकाङ्गी

चित्र में सौन्दर्य नहीं होता। कामी पुरुष सौन्दर्य को न ढूंढता है न पाता है, वह रतिवासना की तृप्ति मात्र चाहता है। जो क्रोध से पागल हो रहा है उसके लिए फूल सा कोमल बालक भी सुन्दर नहीं है। जब चित्त किसी वस्तु पर अपने को लगा देता है तभी उसका स्वरूप, उसका सारा रहस्य, सामने आता है। नाटक के प्रेक्षण का पूरा लाभ उसी को मिलता है जो स्वयं अभिनेता नहीं होता। जो भोग चाहता है वह सौन्दर्य नहीं पा सकता। सौन्दर्यानुभूति की कुंजी स्रोतापत्ति—अपने को प्रवाह में डाल देना—है। सौन्दर्य—वस्तु का स्वरूप—तब सामने आता है जब सौन्दर्य की भी खोज नहीं होती। ऐसा होने पर बूँद उस समुद्र को उन्मुक्त कर देता है जो उसके गर्भ में सतत छिपा रहता है। खिले कमल में, बादलों में से झाँकती ज्योत्स्ना में, उषा के स्मित में, मयूर के नृत्य में, विधवा के मौन रुदन में, अनाथ की लुटी आँखों में विश्व का रहस्य भरा है। हम रुदन के सम्बन्ध में सौन्दर्य शब्द सुनकर चौंकते हैं। यह प्रयोग कुछ असाधारण सा तो है परन्तु हमारे चौंकने का मुख्य कारण यह है कि हम सौन्दर्य को भोग्यता के साथ सम्बद्ध मानने के अभ्यासी हो गये हैं।

दृश्य भौतिक उपकरणों से निर्मित तो होता ही है पर गहरी और निष्काम दृष्टि डालने से वह गुणों और भावनाओं का प्रतीक प्रतीत होने लगता है। यों तो यह बात सभी वस्तुओं में पाई जाती है परन्तु कुछ में तो ऐसा जान पड़ता है कि जगत् को परिचालित करनेवाली शक्तियाँ, जिनको समाधि भाषा में महाविद्या कहते हैं, साक्षात् मूर्तिमती होकर खड़ी हैं। ऊँचा पहाड़ पत्थरों का ढेर नहीं है, वह शक्ति है जो गुरुत्वाकर्षण को अभिभूत कर रही है, उस ओज का प्रतीक है जो नीचे खींचनेवाली परिस्थितियों को ठोकर मारकर ऊपर उठाता है; वसन्त में कली नहीं चटकती, शिशिर में पत्तियाँ नहीं झड़तीं; ब्राह्मी और रौद्री शक्तियाँ काम करती हैं; कमल किञ्जल्क के बीच में भौंरा रस पान नहीं करता, लक्ष्मी अमृत के कलश लुढ़काती है; कुतिया अपने बच्चों को दूध नहीं पिलाती, साक्षात् जगद्धात्री जीवों में प्राण डाल रही है। इन शब्दों का लोग प्रायः

प्रयोग नहीं करते, बहुतों को इन शक्तियों की कल्पना भी नहीं है, परन्तु इनका साक्षात्कार होता है। देखनेवाला अपने साधारण जीवन के ऊपर उठ जाता है, भौतिक जगत् अंशतः पीछे छूट जाता है, ऋत और सत्य की कुछ झलक मिल जाती है, नानात्व का कुछ उपशम हो जाता है, उस एक पदार्थ से थोड़ा-बहुत तादात्म्य प्राप्त हो जाता है जो जगत् का मूल है।

द्रष्टा और दृश्य के एवम्भूत योग का नाम ही रसानुभूति या सौन्दर्यानुभूति है। यह अवस्था एक प्रकार की समाधि है। वस्तुतः दृश्य द्रष्टा से भिन्न नहीं है। अविद्या ने ही यह द्वैध उत्पन्न किया है। दृश्य रूप में द्रष्टा को अपना दर्शन होता है। दृश्य में जो भी स्थूल सूक्ष्म लक्षण प्रतीत होते हैं वह द्रष्टा की मनःप्रसूति हैं। अतः जब चित्त एकाग्र होता है और रस की अनुभूति होती है उस समय द्रष्टा अपने ही सूक्ष्म रूप को देखता है। दृश्य सिमिटकर द्रष्टा के पास आ जाता है।

इसीलिए सौन्दर्य का सच्चा अनुभव योगी को ही हो सकता है। ज्यों-ज्यों चित्त की वृत्ति रुकती है, त्यों-त्यों अन्तःकरण के दिक्कालादि धर्म्मों का अतिरोहण होता है। अन्त में अविद्या के क्षय होने पर भेद बुद्धि नष्ट हो जाती है और एक अद्वय अखण्ड चित्सत्ता अपनी लीला का संवरण करके अपने आपका साक्षात्कार करती है। उसका स्वरूप परमानन्द है, अतः योगी पर निरन्तर सोम की वर्षा होती है। कबीर के शब्दों में, "रस गगन गुफा में अजर झरै"। योगी के लिए सदा सर्वत्र सौन्दर्य का सागर लहराता रहता है।

रसानुभूति के इस दृढ़ स्तर पर पहुँचना तो अनेकजन्म यत्नसाध्य है परन्तु जिसको थोड़ी देर के लिए भी सौन्दर्य की, जगत् के सच्चे स्वरूप की झलक मिल जाती है वह भाग्यवान् है। जो लोग अपने इस अनुभव को दूसरों तक पहुँचाने की क्षमता रखते हैं वही कवि और कलाकार कहलाने के पात्र हैं।

मैंने अब तक जिन सुन्दर दृश्यों के उदाहरण दिये हैं वह सब प्राकृतिक हैं परन्तु जो बात उनके लिए कही गई है वही सच्चे कलाकार की कृति

में भी पाई जाती है। उसकी सृष्टि भी प्रतीकात्मक होनी है। कलाकार फ़ोटो नहीं खींचता। वह प्रकृति की अनुकृति नहीं करता। उसका उद्देश्य यह होता है कि सत्य की जो झलक उसको मिली है वह दूसरों को भी मिले। इसके लिए उसको भौतिक साधनों से काम लेना पड़ता है और यह साधन अपने सहज दोषों को छोड़ नहीं सकते। चञ्चल, सक्रिय पदार्थों को धातु पत्थर या काग़ज़ में बाँधना उनको मार डालना है। उसका कौशल इसी बात में है कि कला की सामग्री कला के उद्देश्य को कम से से कम व्यवहित कर सके।

कवि इस बात में भाग्यवान् है कि उसका उपकरण शब्द है। शब्दों में प्रवाह होता है और वह विचार-प्रवाह के प्रतीक होते हैं। पद्य में विभिन्न छन्दों की मात्रा और लय के संघटन से प्राणों में लय उत्पन्न होता है और इससे चित्त की एकाग्रता में सहायता मिलती है। शब्दों का प्रयोग भी ऐसा होता है कि बुद्धि ब्योरे की बातों में न उलझकर उसी तत्व पर टिके जहाँ कवि उसे जमाना चाहता है। काव्य दृश्य हो या श्रव्य, कवि को विभाव और स्थायी से काम लेना पड़ता है, अनुभाव और सात्विक को दिखाना पड़ता है, परन्तु उसका लक्ष्य रस ही रहता है। यदि नायक नायिका या उद्दीपन सामग्री या रति आदि भाव या पात्रों की चेष्टायें अपने में रोक रक्खें तो यह कवि की प्रतिभा का दोष है। काव्य का आधार किसी व्यक्ति विशेष को बनाना पड़ता है परन्तु चित्त व्यक्ति के ऊपर उठकर प्रेम, करुणा, त्याग, वैराग्य आदि के निर्व्यवित क्षेत्र में मँडराने लगता है। श्रोता अपने में पात्र को और पात्र में अपने को पाता है। थोड़ी देर के लिए अनुभूति का घेरा निःसीम और उसकी गहराई अथाह हो जाती है।

कलाओं में सङ्गीत का स्थान सबसे ऊँचा है। सङ्गीत साहित्य से भी ऊपर उठता है। कवि जिन शब्दों से काम लेता है वह अपने अर्थों और ध्वनियों को नहीं छोड़ सकते इसलिए बुद्धि उनमें कुछ न कुछ उलझ ही जाती है। सङ्गीत में स्वर और ताल से काम लिया जाता है, स्वर

उस आदि शब्द स्फोट की आदिम अभिव्यक्ति हैं जिससे इस भौतिक जगत् का विकास हुआ है, इसलिए वैखरी, मुँह से निकलनेवाली स्वनराशि का अंग होते हुए भी वह परावाणी के बहुत निकट हैं। अच्छे गाने या बजानेवाले को भाषा में कुछ बतलाने की आवश्यकता नहीं होती। स्वरों का आरोहावरोह प्राणों को बाहर से खींचकर ऊर्ध्वमुख कर देता है; चित्त विक्षेप को छोड़कर मंत्रमुग्ध सर्प की भाँति निश्चल हो जाता है; नानात्व दब-सा जाता है; शरीर के भीतर-बाहर एक-सा झङ्कृत हो उठता है; ऐसा प्रतीत होता है कि देह का बन्धन छूट गया। मैं उठता, फैलता, सा जाता हूँ; रस का सागर उमड़-सा आता है; अपने में एक अद्भुत आनन्द छा जाता है। सामवेद के उद्गाता और वीणा के कुशल बजाने-वाले अनाहतनाद के स्वर में स्वर मिलाते हैं; नटवर के पायल ब्रह्माण्डों के स्पन्दन को ताल देते हैं। क्षण भर की भी ऐसी समाधिकल्प अनुभूति मनुष्य को पवित्र कर देती है।

मैंने ऊपर कहा है कि सौन्दर्यानुभूति का सबसे बड़ा साधन स्रोता-पत्ति है। स्रोतापत्ति तपःसाध्य है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि जो घर बार छोड़कर जङ्गल में रहता है वही सौन्दर्य का आस्वाद पाता है किन्तु यह निश्चित है कि जिसका चित्त अपनी अतृप्त वासनाओं और अभिहत इच्छाओं का शिकार बना रहता है वह न तो उत्कृष्ट कला की सृष्टि कर सकता है, न उसमें रस का सञ्चार हो सकता है। ऐसा चित्त अपनी कृतियों में अपनी अस्त-व्यस्त दशा का चित्र खींच सकता है परन्तु न उसने सत्य को जाना है न दूसरे को उसकी झलक दिखला सकता है। ऐसी रचना में स्थायी आकर्षण नहीं होता। इसी प्रकार वासनावरुद्ध चित्त कला से स्थायी भाव के उद्दीपन का काम तो ले सकता है परन्तु उस स्तर तक नहीं उठ सकता जहाँ कलाकार का मानस आसन होता है।

प्रत्येक अनुभूति चित्त का परिणाम-विशेष होती है। वह द्रष्टा की अपनी चीज़ होती है परन्तु जब उसको व्यक्त किया जाता है, जब वह

कृति के रूप में दूसरों के पास तक पहुँचाई जाती है तो फिर सार्वजनिक सम्पत्ति बन जाती है। जो जनता के सामने कोई कृति रखना चाहता है उसके ऊपर यह दायित्व है कि इस वात की परीक्षा कर ले कि वह लोक-सम्पत्ति होने के योग्य है या नहीं। जगत् में हर प्रकार की वस्तुएँ हैं परन्तु कोई भी समझदार कूड़ा-करकट जमा नहीं करता। अपने हृदय की प्रत्येक कसक, अपनी प्रत्येक भूख, अपनी बुद्धि की प्रत्येक उड़ान, ऐसी नहीं होती कि दूसरों को उसका स्वाद लेने के लिए निमंत्रित किया जाय। जगत् सार्वजनीन है, उसका मूल विभु और सर्वजनगत है, उसका नियमन करनेवाली शक्तियाँ सार्वलौकिक हैं। जगत् के स्वरूप का ज्ञान मोक्ष देनेवाला, परम कल्याणकारी है। योगी न होते हुए भी कवि को, दार्शनिक को, वैज्ञानिकप्रयोक्ता को, इस परतत्त्व का कुछ आभास मिलता है। वह तत्त्व सत्य है, शिव है, सुन्दर है। उसको व्यक्त करनेवाली कृति कलामय होगी और शिवमय होगी। कलाकार को अपने लिए यही परख रखनी चाहिए। उसको कोरी भावना छोड़कर बुद्धि से भी काम लेना चाहिए। जिस रचना का उद्‌गम ऋत और सत्य नहीं है, जिसका उद्देश्य लोकमङ्गल नहीं है, जिसका आवरण, जिसकी सजावट अशिव है, वह सुन्दर नहीं हो सकती।

शिक्षक की समस्या

शिक्षा उन विषयों में से एक है जिनकी ओर आजकल सभी लोगों का ध्यान जा रहा है। पुरुष और स्त्री, बच्चे और बूढ़े---सभी को पढ़ाने का आयोजन किया जा रहा है। नये स्कूल और कालिज ही नहीं, विद्यापीठ और विश्वविद्यालय तक खुल रहे हैं और इनके ऊपर करोड़ों रुपया व्यय हो रहा है। जिस प्रकार इससे पहले जन्म भर की पाप की कमाई एक धर्मशाला बनवा देने या कुआं खुदवा देने से निर्दोष हो जाती थी, उसी प्रकार आजकल शिक्षालयों को दान देना प्रायश्चित्त का सुलभ साधन है। जो लोग रुपया नही लगा सकते वे बुद्धियोग से ही सेवा करते हैं। अपने थोड़े-से मंत्रिकाल में मुझे शिक्षा के सभी अङ्गों के सम्बन्ध में सैकड़ों आयोजन मिले। इन प्रस्तावों के भेजनेवालों में बहुत-से ऐसे सज्जन थे जिनसे मुझको परिचय का सौभाग्य न था और जो स्वयं किसी शिक्षण-संस्था से किसी प्रकार सम्बद्ध न थे। इसे मेरा दुर्भाग्य ही समझना चाहिए कि मै इनमें से अधिकतर परामर्शों से लाभ न उठा सका, पर यह देखकर आश्चर्य हुआ कि शिक्षा के भिन्न-भिन्न अंगों पर इतने व्यक्ति स्वतंत्र विचार कर रहे हैं। यदि अपना देश स्वाधीन हो तो यह बौद्धिक शक्ति बहुत उपयोग में लाई जा सकती है।

शिक्षा में यह व्यापक अभिरुचि उन लोगों के लिये बड़े हर्ष का विषय है जो इस काम में बराबर लगे हुए हैं। अध्यापकों को तो इससे बड़ी प्रसन्नता होती है। मैं स्वयं अध्यापक रहा हूँ और हूँ, इसलिए अपनी जानकारी से ऐसा कह सकता हूँ। जितने ही नये शिक्षालय स्थापित होते हैं, जितना ही पूर्वस्थापित शिक्षालयों का परिवर्द्धन होता है, मनोविज्ञान और अध्यापन-शास्त्र का जितना ही गहरा अध्ययन होता है, उतना ही हमारा काम सुकर होता है। प्रत्येक ऐसा व्यक्ति जो शिक्षा के लिए एक

पैसा देता है और प्रत्येक ऐसा व्यक्ति जो अशिक्षितों से निकलकर शिक्षितों की कोटि में मिलता है, हमारा सहायक है। अज्ञान से लड़ने के लिये हम प्रत्येक सिपाही का स्वागत करते हैं। शिक्षा और साक्षरता में जो भेद है उसे हम जानते हैं परन्तु साक्षरता भी उपेक्षणीय नहीं है। वह शिक्षा का प्राथमिक सोपान है, इसलिये साक्षरता प्रचार भी प्रसन्नता का ही विषय है।

परन्तु इस व्यापक सन्तोष में कुछ काली रेखाएँ भी हैं और वे रेखाएँ बहुत काली हैं। अन्य लोगों के साथ-साथ सरकारें भी शिक्षा में अभिरुचि ले रही हैं। सरकार न कहकर राज शब्द का प्रयोग किया जाता है। राज को शिक्षा की ओर ध्यान देना ही चाहिए। उसका कर्तव्य है कि वह ऐसे प्रबन्ध करे जिनसे सबको यथोचित शिक्षा मिले और शिक्षा के लिये अर्पित धन का अपव्यय न हो। छात्रों और अध्यापकों की सुविधा भी उसे देखनी चाहिए और इस बात पर भी दृष्टि रखनी चाहिए कि सभी आवश्यक विषयों की पढ़ाई का प्रबन्ध रहे। राजकोष पर शिक्षा का पहला अधिकार है। पर आजकल राज इतने से सन्तुष्ट नहीं होता। वह यह भी निश्चय करता है कि क्या पढ़ाया जाय, कौन पढ़े और कौन पढ़ाये। इसमें कोई सन्देह नहीं कि किसी न किसी को तो यह निश्चय करना ही होगा कि किस प्रकार की शिक्षा दी जाय। यह काम समाज का, उसके दार्शनिक विद्वानों और धर्माचार्यों का है। उनको सोचना चाहिए कि मनुष्य के जीवन का लक्ष्य क्या हो। जैसा लक्ष्य होगा वैसा ही समाज होना चाहिए और उस समाज के उपयुक्त ही शिक्षा होनी चाहिए। यह विचार और निश्चय मुट्ठीभर शासकों के ऊपर नहीं छोड़ा जा सकता, पर आज यही हो रहा है। थोड़े-से प्रभावशाली व्यक्ति जो निर्णय कर लेते हैं, वह राज के नाम से सारे समाज और शिक्षा के द्वारा आनेवाली पीढ़ियों के सिर लादा जाता है। इस प्रकार के निर्णय का आधार-स्तम्भ यह सिद्धान्त होता है कि राज की सत्ता व्यक्ति की सत्ता से अधिक महत्त्व रखती है। व्यक्ति के जीवन की सार्थकता इसी बात में

है कि वह राज का अंग रहकर उसका हित-साधन करे। राज से पृथक् उसका उतना ही मूल्य है जितना कि शरीर से पृथक् हाथ, पाँव, सिर या किसी अन्य अवयव का। राज के हित में व्यक्तियों का हित निहित है पर राज के हित के सामने व्यक्ति के हित का कोई मूल्य नहीं है। राज व्यक्ति के लिए नहीं, व्यक्ति राज के लिए है। राज का हित किस बात में है इसका निश्चय उसका उत्तमाङ्ग अर्थात् शासकवृन्द ही कर सकता है। व्यक्ति को शासकों की बात माननी ही होगी। उसका विद्रोह करना वैसा ही है जैसा किसी अवयव का शरीर के विरुद्ध विद्रोह करना। इसका तात्पर्य यह होता है कि सारी जनता को हर बात में मुट्ठीभर आदमियों के हाथ में रहना पड़ता है और अपने जीवन के हर विभाग को उनके ऊपर छोड़ देना होता है। यह स्पष्ट ही है कि जहाँ राज का हित ही सबसे बड़ा लक्ष्य है वहाँ विभिन्न राजों के हित आपस में निरन्तर टकराते रहेंगे, क्योंकि प्रत्येक राज अपने हित को सबसे ऊँचा स्थान देगा। ऐसी दशा में बराबर युद्ध होंगे और प्रत्येक राज बल-संग्रह में अपनी सारी शक्ति लगाता रहेगा। दूसरे राजों को दबाने और दूसरे देशों के निवासियों का शोषण करने के सिवाय राज का और कोई दूसरा हित भी नहीं हो सकता। ऐसी परिस्थिति में सबसे अच्छा नागरिक वह होगा जो बिना कुछ कहे-सुने अपना सर्वस्व सदैव राज के चरणों पर न्योछावर करने के लिये तैयार रहे। ऐसी नागरिक मनोवृत्ति एक विशेष प्रकार की शिक्षा से ही उत्पन्न हो सकती है। इसलिए आजकल के राज शिक्षा को अपने हाथ में रखते हैं। वे चाहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति में बचपन से ही यह भाव कूट-कूटकर भर दिया जाय कि उसका राष्ट्र और राज सर्वश्रेष्ठ है और पृथिवी पर संस्कृति फैलाने का उसके ऊपर विशेष दायित्व है। ऐसे नागरिक को यह सोचकर कि मैं इस राज का अंग हूँ, कुछ वैसा ही आनन्द मिलता है जैसा कि किसी भक्त को भगवान् का अंश होने में। वह कभी इस बात को मान ही नहीं सकता कि उसका राज कभी भूल कर सकता है या किसी और राज का पक्ष उसकी अपेक्षा

अधिक न्यायसंगत है। जो ऐसी वृत्ति उत्पन्न करने का बीड़ा ले और इसके लिये सत्य को तिलाञ्जलि देकर इतिहास, विज्ञान और दर्शन का गला घोंटने को तैयार हो, वही अध्यापन के गुरु कार्य में लगने दिया जा सकता है। ऐसी शिक्षा असत्य की नींव पर खड़ी की जाती है और लूट-खसोट तथा दुरभिमान के मनोवेगों को उद्दीप्त करती है; पर इसमें यह बड़ा गुण है कि राज को सहज ही ऐसे बकरे मिल जाते हैं जो हँसते-खेलते बलिवेदी पर चढ़ जाते हैं।

शिक्षा के सच्चे प्रेमियों के लिए यह बात चिन्ताजनक है परन्तु रोक का कोई प्रयास नहीं हो रहा है। जर्मनी-जैसे फ़ासिस्ट राज तो खुलकर यह खेल खेलते ही हैं; जो राज अपने को लोकायत्त कहते हैं वे भी उसी लीक पर चल रहे हैं। एक बार शिक्षा की शक्ति को समझ लेने पर कोई सरकार इस अद्भुत शक्ति को छोड़ना नहीं चाहती। दस-पाँच वर्षों में जनता की बुद्धि को बदल देने का यह अपूर्व साधन है। इसके अनुसार पाठशाला एक प्रकार का कारखाना बन जाता है जिसमें से छात्रों की बुद्धि एक ही साँचे में ढलकर निकलती है। राज की शिक्षा-नीति क्या कुछ कर सकती है इसका उदाहरण हम भारत में देख सकते हैं। पठान और मुग़ल शासक अपनी प्रजा की बुद्धि से विद्रोह का भाव कई सौ वर्षों में न निकाल सके, पर वह काम अँगरेज़ों ने सौ वर्षों के भीतर-भीतर कर लिया। इतिहास और साहित्य की पोथियों में एक पंक्ति इधर घटा दी, एक पंक्ति उधर बढ़ा दी; किसी के नाम के आगे कोई विशेषण जोड़ दिया; किसी घटना को दस, किसी को पाँच शब्दों में दिखाया कि जादू चल गया। सैकड़ों हज़ारों भारतीयों पर यह सिक्का बैठ गया कि भारत का इतिहास अटूट दासता की गाथा है, हम अपने पाँवों पर कभी अकेले नहीं खड़े हो सके, हमारे आभ्यन्तर कलह अमिट हैं, हमारे यहाँ सच्चा रामराज्य तो अँगरेज़ी शासनकाल में आया है और हमारा कल्याण अँगरेज़ों की छत्रच्छाया में रहने में ही है।

ऐसी परिस्थिति श्रेयस्कर नहीं हो सकती। असत्य के बल पर खड़ी

असत् शिक्षा कलह और अन्तर्राष्ट्रीय अशान्ति को कभी बन्द न होने देगी और एक दिन सभ्यता को श्मशान पहुँचाकर ही दम लेगी। प्रत्येक ऐसे व्यक्ति को जो मनुसन्तान का हित चाहता है, इस विषय में सतर्क होना चाहिए। इस सतर्कता का फल यह होगा कि मनुष्य-जीवन का सच्चा लक्ष्य और नागरिकता का साधु आदर्श स्थापित होगा और राज के सार्वभौम अधिकार का गढ़ ढह जायगा। उसी अवस्था में शिक्षा के समुचित प्रयोग हो सकेंगे।

जिस दिन जनता शिक्षा के वास्तविक महत्त्व को समझेगी उस दिन उसका पहला काम शिक्षकों की अवस्था का सुधार होगा। आज के अध्यापक की गिरी दशा शिक्षा के पतित आदर्शों की प्रतीक है। जहाँ बहुत से कारखाने हैं वहाँ पाठशाला भी है। किसी में कीलें ढलती हैं, किसी में जूते बनते हैं। सब माल एक-सा—एक सुई या पुस्तक या लोटा दूसरे से पहचाना नहीं जा सकता। हाथ की बनी वस्तुओं में विशेषता होती है; कारखाना विशेषता को समाप्त कर देता है। इसी प्रकार स्कूल से एक प्रकार की नपी-तुली बुद्धि के लड़के निकलते हैं; एक-सा सार्टिफ़िकेट सब के पास है। स्कूल मौलिकता को प्रोत्साहन नहीं दे सकता। अध्यापक—चाहे वह कालिज के प्रोफ़ेसर हों या देहाती पाठशाला के गुरूजी—इस बड़े कारखाने के मजदूर हैं। उनको ऊपरवालों की आज्ञा के अनुसार माल तैयार करना है, अर्थात् पढ़ाना है। बेकारी के दिनों में भी वेतन मिलता है, और क्या चाहिए?

जब तक यह भाव बना रहेगा तब तक अध्यापक भी बेगार ही करते रहेंगे। शिक्षा के आदर्शों का निश्चय करना पूरा-पूरा अध्यापकों पर ही नहीं छोड़ा जा सकता परन्तु उनका भी इसमें बड़ा हाथ होना चाहिए। जिस कारीगर को काम करना है उसको यह भी कहने का अधिकार होना चाहिए कि इस मसाले से क्या तैयार हो सकता है और होना चाहिए। यह तो अजीब अन्धेर है कि शिक्षा के सम्बन्ध में अनाड़ी निर्णायक सम्मति दे और अध्यापक को बोलने का अधिकार न हो। समाज शिक्षकवर्ग के

साथ बराबर अन्याय करता आया है। वेतन-पुरस्कार के समय उसका स्थान सबसे पीछे आता है। मैं यह जानता हूँ कि कुछ ऐसे भाग्यशाली अध्यापक भी हैं जो पर्याप्त वेतन पा रहे हैं, पर इनकी संख्या बहुत थोड़ी है। अधिकतर ऐसे ही है जिनको दूसरे पेशों के बाजार-भाव के अनुसार भी पारिश्रमिक नहीं मिलता। जिनके सुपुर्द यह कार्य है कि वे भविष्यत् के नागरिकों और नेताओं को तैयार करें, उनसे भूखे रहकर काम करने की आशा की जाती है। यह नहीं सोचा जाता कि इनके भी बाल-बच्चे हैं, इन्हें भी लड़कियों का ब्याह करना है और लड़कों को पढ़ाना है, इनको भी अच्छे खाने-पहनने की इच्छा होती है; इनका भी जी मनोरञ्जन चाहता होगा। जो लोग अध्यापकों को सादगी का उपदेश देते हैं और उनको प्राचीनकाल के विद्यापीठों में पढ़ानेवाले साधु-ब्राह्मणों की याद दिलाते हैं, वे स्वयं यह भूल जाते हैं कि आज वह युग नहीं है, आज के अध्यापक को भिन्न प्रकार की सभ्यता के बीच रहना है, आज उसके शिष्य उसके चरणों पर गुरु-दक्षिणा नहीं रखते, सारा काम बँधे वेतन से ही चलाना है। एक और बात लोग भूल जाते हैं। योगियों और तपस्वियों की बात न्यारी है—ऐसे लोग तो बहुत थोड़े होते हैं—परन्तु जो मनुष्य घोर तामसिक नहीं होता उसमें कुछ न कुछ महत्त्वाकांक्षा निःसन्देह होती है। या तो वह धन चाहता है या ऊँचा पद जिसमें दूसरों पर अधिकार हो या सम्मान मिले। अपनी इस इच्छा के अनुसार उसे प्रधानतः वैश्य, क्षत्रिय या ब्राह्मण स्वभाव का कह सकते हैं। साधारणतः सभी चीज़ों की चाह होती है पर इनमें से कोई एक दूसरों से प्रबल पड़ती है। अब बेचारे अध्यापक को लीजिए। उसका वेतन बहुत कम है और अधिकार भी कुछ नहीं है। समाज उसे सम्मान तक भी देने को तैयार नहीं। क्या गाँव और क्या जनपद, अध्यापक का स्थान सबसे नीचा है। क्या राज-दर्बार और क्या सभा-समिति—अध्यापक की जगह पीछे ही होगी। एक तहसीलदार या थानेदार का सम्मान किसी बड़े कालिज के प्रधानाध्यापक से ऊँचा होगा। एक नौसिखिया वकील

जो दीवानी फ़ौजदारी क़ानून के सिवाय कुछ नहीं जानता, राजनीति और अर्थनीति, शासन और शिक्षण पर बोलने का अधिकारी है, और अनेक शास्त्रों में निष्णात अध्यापक के लिये चुप रहना ही उचित समझा जाता है। इस आक्षेप के उत्तर में यह कहना व्यर्थ है कि जो व्यक्ति योग्य होगा वह अपने व्यक्तित्व के बल पर सम्मान प्राप्त कर ही लेगा। यह बात ठीक है पर सब के लिए ठीक नहीं है। यहाँ विशेष व्यक्तियों की क्षमता का विचार नहीं है; प्रश्न तो समाज के सामान्य दृष्टिकोण का है। इसी लिए यह विचार भी अप्रासङ्गिक है कि अध्यापकों को कहाँ तक और किस प्रकार राजनीतिक वादविवाद में भाग लेना चाहिए।

समाज को अपनी इस नीति का फल मिल रहा है। थोड़े-से व्यक्ति तो इस क्षेत्र में प्रेम से आते हैं परन्तु बहुधा ऐसा ही होता है कि जब लोग अपने लिए कोई और पेशा नहीं देखते तब अध्यापक बनने की सोचते हैं। जिस व्यवसाय में किसी भी महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति के लिये अवसर नहीं उसकी ओर पहला ध्यान कम ही लोगों का जाता है। समाज को यह आशा न करनी चाहिए कि जो मनुष्य विवश होकर इस काम में आया है वह पूरा उत्साह दिखला सकेगा। वह तो अपनी अतृप्त इच्छाओं की आग में जलता रहेगा। उसे बराबर यही ख़्याल होता रहेगा कि मैं यहाँ दुर्भाग्यवश आ फँसा हूँ। मुझ से कम योग्यतावाले अधिकार, धन और सम्मान का उपभोग कर रहे हैं और मैं एक कोने में पड़ गया हूँ। यदि समाज चाहता है कि उसके बच्चों को उच्च कोटि की शिक्षा मिले और उसके अध्यापक अपने काम में अपना पूरा मनोयोग दें तो उसे इस पेशे को अन्य पेशों के बराबर आकर्षक बनाना होगा। अध्यापकों को पर्याप्त भृति देनी होगी और सम्मान बढ़ाना होगा। ब्राह्मण चातुर्वर्ण्य में शिरःस्थानीय था। अध्यापक का भी समाज में वही स्थान होना चाहिए। जिसके साथ शूद्र-जैसा व्यवहार किया जाय उससे ब्राह्मण-जैसे आचरण की आशा नहीं की जा सकती।

पर जहाँ समाज दोषी है वहाँ हम अध्यापक भी कम अपराधी नहीं

हैं। जो इस पेशे में आये उसे यह समझ लेना चाहिए कि वह व्यास और वशिष्ठ की गद्दी पर बैठने जा रहा है। वेतन लेना पाप नहीं है, पुरोहित भी दक्षिणा लेता है; परन्तु अध्यापन को केवल जीविका का साधन समझना अधर्म है। कोमल बुद्धि बालक-बालिकाओं को मनुष्य बनाने का अवसर सबको नही मिलता। हमारे छात्रों में से ही भविष्यत् के नेता, योद्धा, राजपुरुष, विज्ञानवेत्ता और दार्शनिक निकलेंगे। यह गौरव की बात है। हम अपने वेतनादि से सन्तुष्ट हों या न हों परन्तु हमें इस बात का कोई अधिकार नहीं है कि अपने असंतोष का बदला छात्रों से लें। उनको तो हमारी पूर्ण शक्ति, पूरा बुद्धि योग, पूरा नैतिक सहारा मिलना ही चाहिए। विद्यादान करते समय तो हमारा यह भाव होना चाहिए जो पूजा करते समय होता है।

दु:ख के साथ कहना पड़ता है कि हमने अपने कर्तव्य को नहीं पहचाना। समाज ने, या समाज के नाम पर उसके शासकों ने, हमको मजदूर समझा और हम भी चुपके-से विवेकशून्य मजदूर बन गये। हमसे जो कहा गया हमने वही कर दिया। यह न सोचा कि काम करणीय भी है या नहीं। अपने राजनीतिक विश्वास के लिए हजारों आदमी जेल जाते हैं, कितने सम्पत्ति की हानि करते हैं, बहुतों को प्राणों से हाथ धोना पड़ता है। अपने धर्म या धर्मग्रंथ या मन्दिर-मस्जिद के नाम पर कितने ही पुरोहितों, पुजारियों और पादरियों ने यातनायें सही हैं और प्राण दिये हैं। पर यह सुनने में स्यात् ही कभी आता है कि अमुक अध्यापक ने इसलिए अपना काम छोड़ दिया कि वह अधिकारियों की आज्ञा के अनुसार पढ़ाने को तैयार न था। यदि वैद्यों को आज्ञा दी जाय कि तुम अपने रोगियों को विष दे दो तो अधिकतर वैद्य इस आज्ञा को न मानेंगे, पर ऐसे कितने अध्यापक हैं जिन्होंने अपने छात्रों की बुद्धि में असत्य ज्ञान का विष सञ्चार करना अस्वीकार किया है? जो किसी सिद्धान्त के लिये कष्ट सहने को तैयार नहीं, जिसको कोई आदर्श इतना प्यारा नहीं कि वह अपने को उसके लिए बलिदान करने को बाध्य समझे, वह कभी लोकसम्मान का भाजन नहीं बन सकता।

जब हम लोग समाज को दोष देते हैं तो इस बात पर भी विचार कर लिया करें। कभी हम यह भी सोचते हैं कि इस समय जो साम्प्रदायिक वैमनस्य सारे देश में फैला है, उसके लिए हमारा और हमारे झूठे इतिहास पढ़ाने का कहाँ तक दायित्व है ?

अध्यापन को केवल व्यवसाय समझ लेने का परिणाम यह हुआ है कि हम अपने को समाज के भले बुरे के लिये दायी नहीं समझते। यह भूल जाते हैं कि हम भी इस समाज के अंग हैं और इस पर हमारा भी उतना ही स्वत्व है जितना किसी बड़े से बड़े राजनीतिक नेता का। अनुत्तर-दायित्व के भाव ने इतना घर कर लिया है कि हम उस गुण को खो बैठे हैं जिसकी अध्यापक को सबसे बड़ी आवश्यकता है। यह गुण सहानुभूति है। हमको अपने विद्यार्थियों के साथ सहानुभूति नहीं रही। आज का युवक—और यही बात युवतियों के लिये भी सच है—असाधारण परिस्थिति में है। प्राचीन नष्ट हो रहा है, नवीन अभी आया नहीं। राजनीतिक समस्याओं को बड़े लोग चाहे सँभाल भी ले, यद्यपि इसमे भी सन्देह है, परन्तु बहुत से ऐसे आर्थिक और सामाजिक प्रश्न हैं जिनका उसके जीवन से अन्तरङ्ग सम्बन्ध है। सब कुछ अनिश्चित है। उसे जीविका के लिये क्या करना होगा ? विवाह करे या न करे ? कब करे ? किससे करे ? कैसे करे ? घरवालों से खान-पान, रहन-सहन के विचार नहीं मिलते, उनके साथ रहे या अलग गृहस्थी बसायें ? पुरानी बहुत-सी रूढ़ियां निरर्थक प्रतीत होती है, उनको माने या न माने ? न मानने में घरवालों को जो कष्ट होता है वह देना ठीक है या नहीं ? यह और इसी प्रकार के हज़ारों दूसरे प्रश्न उसे पागल बनाये रहते हैं। परन्तु हमको उनका पता नहीं है। उसकी आध्यात्मिक नाड़ी पर हमारा हाथ जाता ही नहीं। लड़के पढ़ने आते हैं पर हम और वह पृथक् पृथक् जगतों में रहते हैं। वह जानते हैं कि उनको हमसे कोई परामर्श, कोई सहायता, कोई नैतिक संबल नहीं मिल सकता। हम उनकी मानस अवस्था को समझ ही नहीं पाते क्योंकि हमने अपने को उन प्राणमयी तरङ्गों से

प्रभावित ही नहीं होने दिया है जो आज लाखों मनुष्यों के जीवन को उद्विग्न कर रही हैं। इस परिवर्तनकाल की विकट समस्याओं के सुलझाने में उन धार्मिक और नैतिक विश्वासों से भी काम नहीं चलता जो किसी समय लोगों को सहारा देते थे; आज वे भी तो शंका के क्षेत्र के भीतर आ गये हैं। स्कूल-कालिजों में जो आये दिन झगड़े होते रहते हैं उनका एक बड़ा कारण यह भी है। आज का विद्यार्थी प्रकृत्या दुष्ट नहीं है पर उसकी बुद्धि को अनेक प्रकार की चिन्ताओं ने क्षुब्ध कर रक्खा है। इन चिन्ताओं का उठना उसके लिए गौरव की बात है, परन्तु खेद यह है कि न हम उसकी कठिनाइयों को समझ सकते हैं, न उसको कोई सहायता दे सकते हैं। वह समवेदना का भिखारी है, और हम उसे विद्रोही समझकर दण्ड देने चलते हैं। इसी से संघर्ष होता है। अनुशासन तो रखना ही होगा पर वह दण्ड बहुत खलता है जिसके लिये अपना हृदय अपराध स्वीकार नहीं करता।

मैंने ऊपर कहा है कि समाज को यह अधिकार नहीं है कि हमको पुरस्कार, अधिकार और सत्कार की दृष्टि से शूद्र समझे और फिर भी हमसे ब्राह्मणवत् आचरण की आशा रक्खे। यह ठीक है। परन्तु समाज के कुकृत्य को समझते हुए भी हमको तो अपना कर्तव्य पालन करना ही है। हमको तो ब्राह्मण का ही आचरण करना है, तपस्वी जीवन बिताना है और विद्यादान को अपना धर्म समझना है—जो ऐसा नहीं कर सकता वह सरस्वती के मन्दिर का पुजारी नहीं हो सकता। यदि हम अपने को पहचानें तो अपने त्याग और तप से फिर समाज का नेतृत्व प्राप्त कर सकते हैं। यह नेतृत्व हमारे स्वार्थ का साधन न होगा वरन् हमको सेवा करने का उपयुक्त अवसर देगा। इसके साथ ही अपने ब्राह्मणवर्ग के नेतृत्व में चलने से समाज का भी कल्याण होगा।

शिक्षा का उद्देश्य

अध्यापक और समाज के सामने सबसे बड़ा प्रश्न है—शिक्षा किस-लिये दी जाय? शिक्षा का जैसा उद्देश्य होगा, तदनुसार ही पाठ्य-विषयों का चुनाव होगा। पर शिक्षा का उद्देश्य स्वतंत्र नहीं है। वह इस बात पर निर्भर है कि मनुष्य-जीवन का उद्देश्य—मनुष्य का सबसे बड़ा पुरुषार्थ क्या है। मनुष्य को उस पुरुषार्थ की सिद्धि के योग्य बनाना ही शिक्षा का उद्देश्य है।

पुरुषार्थ दार्शनिक विषय है पर दर्शन का जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। वह थोड़े से विद्यार्थियों का पाठ्य-विषय मात्र नहीं है। प्रत्येक समाज को एक दार्शनिक मत स्वीकार करना होगा। उसी के आधार पर उसकी राजनीतिक, सामाजिक और कौटुम्बिक व्यवस्था का व्यूह खड़ा होगा। जो समाज अपने वैयक्तिक और सामूहिक जीवन को केवल प्रतीयमान उपयोगिता के आधार पर चलाना चाहेगा उसको बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। एक विभाग के आदर्श दूसरे विभाग के आदर्श से टकरायेंगे। जो बात एक क्षेत्र में ठीक जँचेगी वही दूसरे क्षेत्र में अनुचित कहलायेगी और मनुष्य के लिए अपना कर्तव्य स्थिर करना कठिन हो जायगा। इसका तमाशा आज दीख पड़ रहा है। चोरी करना बुरा है पर पराये देश का शोषण करना बुरा नहीं है। झूठ बोलना बुरा है पर राजनीतिक क्षेत्र में सच बोलने पर अड़े रहना मूर्खता है। घरवालों के साथ, देशवासियों के साथ और परदेशियों के साथ बर्ताव करने के लिए अलग-अलग आचारा-वलियाँ बन गई हैं। इससे विवेकशील मनुष्य को कष्ट होता है, वह पग-पग पर धर्मसंकट में पड़ जाता है कि क्या करूँ। कल्याण इसी में है कि खूब सोच-विचारकर एक व्यापक दार्शनिक मत अङ्गीकार किया जाय और फिर उसे सारे व्यवहार की नींव बनाया जाय। यह असम्भव प्रयत्न

नही है। प्राचीन भारत ने वर्णाश्रम-धर्म इसी प्रकार स्थापित किया था। वर्तमानकाल में इसने मार्क्सवाद को अपने राष्ट्रीय जीवन की सभी चेष्टाओं का केन्द्र बनाया है। ऐसा करने से सभी उद्योग एक सूत्र में बंध जाते हैं और आदर्शों और कर्त्तव्यों के टकराने की सम्भावना बहुत ही कम हो जाती है।

इस निबन्ध में दार्शनिक शास्त्रार्थ के लिये स्थान नही है। मै यहाँ इतना ही कह सकता हूँ कि मेरी समझ में भारतीय संस्कृति ने पुराकाल में अपने लिए जो आधार ढूँढ़ निकाला था, वह अब भी वैसा ही श्रेयस्कर है, क्योंकि उसका संश्रय शाश्वत है।

आत्मा अजर और अमर है। उसमें अनन्त ज्ञान, शक्ति और आनन्द का भण्डार है। अकेले ज्ञान कहना भी पर्याप्त हो सकता है, क्योंकि जहाँ ज्ञान होता है वहीं शक्ति होती है, और जहाँ ज्ञान और शक्ति होते हैं वहीं आनन्द भी होता है। परन्तु अविद्यावशात् वह अपने स्वरूप को भूला हुआ है। इसी से अपने को अल्पज्ञ पाता है। अल्पज्ञता के साथ अल्पशक्तिमत्ता आती है और इनका परिणाम दुःख होता है। भीतर से ऐसा प्रतीत होता है जैसे कुछ खोया हुआ है परन्तु यह नहीं समझ में आता कि क्या खो गया है। उस खोई हुई वस्तु, अपने स्वरूप की निरन्तर खोज रहती है। आत्मा अनजान में भटका करता है; कभी इस विषय की ओर दौड़ता है कभी उसकी ओर, परन्तु किसी की प्राप्ति से तृप्ति नहीं होती, क्योंकि अपना स्वरूप इन विषयों में नहीं है। जब तक आत्मसाक्षात्कार न होगा, तब तक अपूर्णता की अनुभूति बनी रहेगी और आनन्द की खोज भी जारी रहेगी। इस खोज में सफलता, आनन्द की प्राप्ति, अपने परम ज्ञानमय स्वरूप में स्थिति—यही मनुष्य का पुरुषार्थ, उसके जीवन का चरम लक्ष्य है, और उसको इस पुरुषार्थ-साधन के योग्य बनाना ही शिक्षा का उद्देश्य है। वही राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था सबसे अच्छी है जिसमें पुरुषार्थ-सिद्धि में सहायता मिल सके; कम से कम बाधाएँ तो न्यूनतम हों।

आत्मसाक्षात्कार का मुख्य साधन योगाभ्यास है। योगाभ्यास सिखाने का प्रबन्ध राज नही कर सकता, न पाठशाला का अध्यापक ही इसका दायित्व ले सकता है। जो इस विद्या का खोजी होगा वह अपने लिये गुरु ढूँढ़ लेगा। परन्तु इतना किया जा सकता है—और यही समाज और अध्यापक का कर्तव्य है कि व्यक्ति के अधिकारी बनने में सहायता दी जाय, अनुकूल वातावरण उत्पन्न किया जाय।

यहाँ पाठ्य-विषयों की चर्चा करना अनावश्यक है; वह ब्योरे की बात है। परन्तु चरित्र का विकास ब्योरे की बात नहीं है। उसका महत्त्व सर्वोपरि है। चरित्र शब्द का भी व्यापक अर्थ लेना होगा। पुरुषार्थ को सामने रखकर ही चरित्र सँवारा जा सकता है। प्रत्येक छात्र की आत्मा अपने को ढूँढ़ रही है पर उसे इसका पता नहीं है। अज्ञानवशात् वह उस आनन्द को, जो उसका अपना स्वरूप है, बाहरी चीज़ों में ढूँढ़ती है। जब कोई अभिलषित वस्तु मिल जाती है तो थोड़ी देर के लिये सुख का अनुभव होता है परन्तु थोड़ी ही देर के बाद चित्त किसी और वस्तु की ओर जा दौड़ता है, क्योंकि जिसकी खोज है वह कहीं मिलता नहीं। सब इसी खोज में हैं। ऐसी दशा में आपस में संघर्ष होना स्वाभाविक है। यदि दस आदमी अँधेरी कोठरी में टटोलते फिरेंगे तो बिना टकराये रह नहीं सकते। एक ही वस्तु की अभिलाषा जब दो या अधिक मनुष्य करेंगे तो उनमें अवश्य ही मुठभेड़ होगी। चीज़ का उपभोग तो कोई एक ही कर सकेगा। इस प्रकार ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध बढ़ते रहते हैं। ज्ञान और शक्ति की कमी से सफलता कम ही मिलती है। इससे अपने ऊपर ग्लानि होती है, दृश्यमान सुखों के नीचे एक मूक वेदना टीसती रहती है।

यह अध्यापक का काम है कि वह अपने छात्र में चित्त एकाग्र करने का अभ्यास डाले। एकाग्रता ही आत्मसाक्षात्कार की कुंजी है। एकाग्रता का उपाय यह है कि छात्र में मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा का भाव उत्पन्न किया जाय और उसे निष्काम कर्म में प्रवृत्त किया जाय। दूसरे के सुख को देखकर सुखी होना मैत्री और दुःख को देखकर दुखी होना

करुणा है। किसी को अच्छा काम करते देखकर प्रसन्न होना और उसका प्रोत्साहन करना मुदिता और दुष्कर्म का विरोध करते हुए अनिष्टकारी से शत्रुता न करना उपेक्षा है। ज्यों-ज्यों यह भाव जागते हैं त्यों-त्यों ईर्ष्या-द्वेष की कमी होती है। निष्काम कर्म भी राग-द्वेष को नष्ट करता है। ये बातें हँसी-खेल नहीं हैं परन्तु चित्त को उधर फेरना तो होगा ही, सफलता चाहे बहुत धीरे ही प्राप्त हो। इस प्रकार का प्रयास भी मनुष्य को ऊपर उठाता है।

निष्कामिता की कुंजी यह है कि अपना ख्याल कम और दूसरों का अधिक किया जाय। आरम्भ से ही परार्थसाधन, लोकसंग्रह और जीव-सेवा के भाव उत्पन्न किये जायें। जब कभी मनुष्य से थोड़ी देर के लिए सच्ची सेवा बन पड़ती है तो उसे बड़ा आनन्द मिलता है। भूखे को अन्न देते समय, जलते या डूबते को बचाते समय, रोगी की शुश्रूषा करते समय कुछ देर के लिए उसके साथ तन्मयता हो जाती है, मैं-पर का भाव तिरोहित हो जाता है। उस समय अपने 'स्व' की एक झलक मिल जाती है। मैं-तू के कृत्रिम भेदों के परे जो अपना सर्वात्मक, शुद्ध स्वरूप है, उसका साक्षात्कार हो जाता है। जो जितने ही बड़े क्षेत्र के साथ तन्मयता प्राप्त कर सकेगा, उसको आनन्द और स्वरूप-दर्शन की उतनी ही उपलब्धि होगी। हमारी सुविधा और चरित्र-निर्माण के लिये यह तो नहीं हो सकता कि लोग आये दिन डूबा और जला करें या भूख-प्यास से तड़पा करें, परन्तु सेवा के अवसरों की कमी भी कभी नहीं होती। सेवा करने में भाव यह न होना चाहिए कि मैं इसका उपकार कर रहा हूँ, वरन् यह कि इसकी बड़ी कृपा है जो मेरी तुच्छ सेवा स्वीकार कर रहा है। यह भी याद रहे कि सेवा केवल मनुष्य की नहीं, जीव-मात्र की करनी है। पशु-पक्षी-कीट-पतंग के भी स्वत्व होते हैं; उनका भी आदर करना है।

चित्त को क्षुद्र वासनाओं से विरत करने का एक बहुत बड़ा साधन कला है। काव्य, चित्र, सङ्गीत आदि का जिस समय रस मिला करता है उस समय भी शरीर और इन्द्रियों के बन्धन ढीले पड़ गये होते हैं और

चित्त आध्यात्मिक जगत् में खिंच जाता है। यही बात प्रकृति के निरीक्षण से भी होती है। प्रकृति का उपयोग निकृष्ट कोटि के काव्य में कामोद्दीपन के लिये किया जाता है परन्तु वह शान्त रस का भी उद्दीपन करती है। अध्यापक का कर्त्तव्य है कि छात्र में सौन्दर्य के प्रति प्रेम उत्पन्न करे। यह स्मरण रखना चाहिए कि सौन्दर्य-प्रेम भी निष्काम होता है। जहाँ तक यह भाव रहता है कि मैं इसका अमुक प्रकार से उपयोग करूँ, वहाँ तक उसके सौन्दर्य की अनुभूति नहीं होती। सौन्दर्य के प्रत्यक्ष का स्वरूप तो यह है कि द्रष्टा अपने को भूलकर तन्मय हो जाय।

कहने का तात्पर्य यह है कि छात्र के चरित्र को इस प्रकार विकास देना है कि वह मैं तू के ऊपर उठ सके। जहाँ तक उपयोग का भाव रहेगा, वहाँ तक स्वाम्य की आकांक्षा होगी। यह वस्तु मेरी होकर रहे—इसी में संघर्ष और कलह होता है। परन्तु सेवा और सुकृत में संघर्ष नहीं हो सकता। हम, तुम, सौ आदमी सच बोलें, धर्माचरण करें, उपासना करें, लोगों के दुःख निवारण करें, इसमें कोई झगड़ा नहीं है; परन्तु इस वस्तु को मैं लूँ या तुम, यह झगड़े का विषय हो सकता है, क्योंकि एक वस्तु का उपयोग एक समय में प्रायः एक ही मनुष्य कर सकता है। गाना हो रहा हो, आकाश में तारे खिले हों, फूलों की सुवास से लदी समीर बह रही हो, इनके सुख को युगपत् हजारों व्यक्ति ले सकते हैं। काव्य-पाठ से मुझको जो आनन्द होता है वह आपके आनन्द को कम नहीं करता। इसीलिए प्राचीन आचार्यों ने धर्म की दीक्षा दी थी। आज भी अध्यापक को, चाहे उसका विषय गणित हो या भूगोल, इतिहास हो या तर्कशास्त्र, अपने शिष्यों में धर्म की प्रवृत्ति उत्पन्न करनी चाहिए। धर्म का तात्पर्य पूजा-पाठ नहीं है। धर्म उन सब कामों की समष्टि का नाम है जो कल्याणकारी हैं। अपना कल्याण समाज के कल्याण से पृथक् नहीं हो सकता। मनुष्य के बहुत से ऐसे गुण हैं जिनका विकास समाज में रहकर ही होता है और बहुत-से ऐसे भोग और सुख हैं जो समाज में ही प्राप्त हो सकते हैं। इसलिए समाज को ध्यान में रखकर

ही धर्म का आदेश होता है। परन्तु हमारे समाज में केवल मनुष्य नहीं हैं। हम जिस समाज के अङ्ग हैं उसमें देव भी हैं, पशु भी है, मनुष्य भी हैं। इन सब का हम पर प्रभाव पड़ता है, सब का हमारे ऊपर ऋण है, इसलिए सब के प्रति हमारा कर्तव्य है। हमको इस प्रकार रहना है कि हमारे पूर्वज संस्कृति का जो प्रकाश हमारे लिये छोड़ गये हैं, उसका लोप न होने पाये– हमारे पीछे आनेवालों तक वह पहुँच जाये। इसलिए हमारे कर्त्तव्यों की डोर पितरों से लेकर वंशजों तक पहुँचती है। इसी विस्तृत कर्त्तव्यराशि को धर्म कहते हैं। आज सब अपने-अपने अधिकारों के लिए लड़ते हैं। इस झगड़े का अन्त नहीं हो सकता। यदि धर्म-बुद्धि जगाई जाय और सब अपने-अपने कर्तव्यों में तत्पर हो जाएँ तो विवाद की जड़ ही कट जाय और सब को अपने उचित अधिकार स्वतः प्राप्त हो जायें। और लोग हमारे साथ कैसा व्यवहार करते हैं—इसकी ओर कम, और हम खुद औरों के साथ कैसा आचरण करें—इसकी ओर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है।

परन्तु इस बुद्धि की जड़ तभी दृढ़ हो सकती है जब चित्त में सत्य के लिये निर्बाध प्रेम हो। सभी शास्त्र इस प्रेम को उत्पन्न कर सकते हैं पर शर्त यह है कि ज्ञान औषध की घूँट की भाँति ऊपर से न पिला दिया गया हो। सत्य को धारण करने के लिये अनुसन्धान और आलोचना की बुद्धि का उद्बोधन होना चाहिए। यह बुद्धि निर्भयता के वातावरण में ही पनप सकती है। अध्यापक को यथाशक्य यह वातावरण उत्पन्न करना है।

इससे यह स्पष्ट हो गया होगा कि अध्यापक को अपने छात्र में कैसा चरित्र विकसित करने का प्रयत्न करना चाहिए। अच्छे उपाध्याय के निकट पढ़ा हुआ स्नातक सत्य का प्रेमी और खोजी होगा। उसके चित्त में जिज्ञासा—ज्ञान का आदर—होगा और हृदय में नम्रता, अनसूया, प्राणिमात्र के लिए सौहार्द। वह तपस्वी, संयमी और परिश्रमी होगा, सौन्दर्य्य का उपासक होगा और हर प्रकार के अन्याय, अत्याचार और कदाचार का निर्मम विरोधी होगा। धर्म और त्याग उसके जीवन की प्रबल प्रेरक शक्तियाँ होंगी। उसका सदैव यह प्रयत्न होगा कि यह पृथिवी

अधिक सभ्य और संस्कृत हो, समाज अधिक उन्नत हो। इसका तात्पर्य यह नही है कि सब संन्यासी होगे। गृहस्थ पर धर्म का भार संन्यासी से कम नही होता। व्यापार, शासन, कुटुंब के क्षेत्रों में भी धर्म का स्थान है। यह भी दावा नही किया जा सकता कि इन लोगों में राग-द्वेष का नितान्त अभाव हो जायगा, कोई दुराचारी होगा ही नहीं। अध्यापक और समाज प्रयत्न-मात्र कर सकते हे। इस प्रयत्न का इतना परिणाम तो नि:सन्देह होगा कि बहुत से लोग ठीक राह पर लग जाएँगे और अपने पुरुषार्थ को पहचानने लगेंगे। पथभ्रष्ट भी होगे, गिरेंगे भी, पर अपनी भूलों पर आप ही पश्चात्ताप करेंगे और इन ग़लतियों को सीढ़ी बनाकर आत्मोन्नति करेंगे। भूल करना बुरा नही है, भूल को भूल न समझना ही बड़ा दुर्भाग्य है।

यह मानी हुई बात है कि अकेला अध्यापक ऐसा मनोभाव नहीं उत्पन्न कर सकता। उसको सफलता तभी मिल सकती है जब समाज उसकी सहायता करे। जिस प्रदेश में कलह मचा रहता हो, जिस समाज में ग़रीब-अमीर, ऊँच-नीच की विषमता पुकार-पुकारकर द्वन्द्व और प्रतियोगिता को प्रोत्साहन दे रही हो, जिस राष्ट्र की नीति परस्वत्वापहरण और शोषण पर खड़ी हो, उसमें अध्यापक अकेला भला क्या करे? जिन घरों में दाल-रोटी का ठिकाना न हो, पिता मद्यप और माता स्वैरिणी हो, बाप-माँ मे मार-पीट गाली-गलौज मची रहती हो, उनके बच्चों को तो पालने में ही मानस-विष दे दिया जाता है। तंग गलियों और गंदे घरों के रहनेवाले, जो छोटे वय से अश्लीलता और अभद्रता में ही पले हैं, सौन्दर्य को जल्दी नही समझ पाते। ऐसी दशा में अध्यापक को दोष देना अन्याय है। फिर भी अध्यापक परिस्थितियों को दोष देकर बैठा नहीं रह सकता। उसको तो अपना कर्त्तव्य-पालन करना ही है, सफलता कम हो या अधिक।

साधारणत: शिक्षक योगी नहीं होता पर उसका भाव वही होना चाहिए जो किसी योगी का अपने शिष्य के प्रति होता है—"अनेक

शरीरों में भ्रमते हुए आज इसने नर-देह पाई है और मेरे पास छात्र-रूप में आया है। यदि मैं इसको ठीक मार्ग पर लगा सका, इसके चरित्र के यथोचित विकास प्राप्त करने में संबल जुगा सका, तो समाज का भला होगा और इसका न केवल ऐहिक, वरन् आमुष्मिक कल्याण होगा। यदि इसे आगे शरीर धारण भी करना पड़ा तो वह जन्म इस जन्म से ऊँचे होंगे। इस समय यह बात-बात में परिस्थितियों से अभिभूत हो जाता है। इसकी स्वतंत्र आत्मा प्रतिक्षण अपने बन्धनों को तोड़ना चाहती है पर ऐसा कर नहीं पाती। यदि इसकी बुद्धि को शुद्ध किया जाय और क्षुद्र वासनाओं से ऊपर उठाया जाय, तो आत्मा परिस्थितियों पर विजय पाने में समर्थ होने लगेगी और इसको अपने अनन्त ज्ञान-शक्ति-आनन्दमय स्वरूप का आभास मिलने लगेगा। इस प्रकार यह अपने परम पुरुषार्थ को सिद्ध करने का अधिकारी बन सकेगा।"—इस भावना से जो अध्यापक प्रेरित होगा वह अपने शिष्य के कामों को उसी दृष्टि से देखेगा जिससे बड़ा भाई अपने घुटनों के बल चलनेवाले छोटे भाई की चेष्टाओं को देखता है। उसकी भूलों को तो ठीक करना ही होगा, परन्तु सहानुभूति और प्रेम के साथ।

यह आदर्श बहुत ऊँचा है, पर अध्यापक का पद भी तो कम ऊँचा नहीं है। जो वेतन का लोलुप है और वेतन की मात्रा के अनुसार ही काम करना चाहता है उसके लिए इसमें जगह नहीं है। अध्यापक का जो कर्त्तव्य है उसका मूल्य रुपयों में नहीं आँका जा सकता। किसी समय जो शिक्षक होता था वही धर्म-गुरु और पुरोहित भी होता था और जो बड़ा विद्वान् और तपस्वी होता था वही इस भार को उठाया करता था। शिष्य को ब्रह्मविद्या का पात्र और यजमान को दिव्य लोकों का अधिकारी बनाना सबका काम नहीं है। आज न वह धर्म-गुरु रहे, न वह पुरोहित। पर क्या हम शिक्षक भी इसीलिए कर्त्तव्यच्युत हो जाएँ? हमको तो अपने सामने वही आदर्श रखना चाहिए और अपने को उस दायित्व का बोझ उठाने के योग्य बनाने का निरन्तर अथक प्रयत्न करना चाहिए।

न्याय, ऋत और सत्य

न्याय शब्द का बोल-चाल में इतना व्यवहार होता है कि ऐसा प्रतीत होता है कि इसका ठीक-ठीक अर्थ सभी समझते होंगे। ईश्वर के यहाँ न्याय होता है, सरकार को न्याय करना चाहिए, अमुक मनुष्य अन्याय कर रहा है, ऐसे वाक्य बराबर सुनने में आते हैं। इन तीन वाक्यों में जो एक ही न्याय शब्द व्यवहृत हुआ है उसका अर्थ स्थूल रूप से सुबोध भले ही हो परन्तु उसको समझाना सुकर नहीं है। ईश्वर पदवाच्य कोई व्यक्तिविशेष हो या न हो पर यहाँ हम ऐसा माने लेते हैं कि किसी प्रकार का दैवी विधान है जिसके अनुसार कर्मों की परख होती है और लोगों को यथावत् फल मिलता है। फल दो प्रकार के होते हैं—सुख और दु:ख। दैवी विधान कुछ कर्मों के लिये, जिनको पुण्य कहा जाता है, सुख देता है और दूसरे कर्मों के लिए, जिनको पाप कहा जाता है, दु:ख देता है। पक्षपातरहित होकर यह सुख-दु:खरूपी पुरस्कार और दण्ड देना ईश्वरीय न्याय है। सरकारी न्याय में कुछ कर्मों के लिये दण्ड तो होता है परन्तु उसमें पुरस्कार के लिए प्राय: स्थान नहीं होता। दोनों के क्षेत्र भी पृथक्-पृथक् हैं। बहुत से ऐसे काम हैं जो सरकारी विधान की दृष्टि में अकरणीय अत: दण्डनीय हैं परन्तु दैवी विधान उनको न भला समझ सकता है न बुरा; ऐसे भी काम हैं जो दैवी विधान में दण्ड्य होंगे परन्तु सरकारी न्याय उनकी ओर से उदासीन है; ऐसा भी हो सकता है कि कोई काम सरकारी न्याय में बुरा हो और ईश्वरी न्याय में अच्छा। सड़क की बाईं पटरी से न चलना सरकार के न्यायालय में दण्ड्य हो सकता है पर ईश्वरीय न्यायालय में उपेक्षणीय होगा; सरकारी न्यायालय में असत्य, असूया, जीवहिंसा अपराध नहीं हैं। किसी लोक-द्रोही दुराचारी को मार डालना चाहे पुण्य भले ही हो पर सरकार के यहाँ दण्ड्य है। साधारण

मनुष्य न ईश्वर है न सरकार अतः उसके कामों का क्षेत्र तो दोनों से संकुचित है।

इतना सब भेद होते हुए, एक ही शब्द का प्रयोग इस बात की ओर संकेत करता है कि लोक-बुद्धि को इन विभिन्नताओं के पीछे कोई समानता देख पड़ती है। यदि विचार किया जाय तो यह प्रतीत होगा कि जो उचित है अर्थात् जो होना चाहिए उसको लोग न्याय अर्थात् न्यायानुकूल समझते हैं। पर इतना कह देने से प्रश्न पर कोई विशेष प्रकाश नहीं पड़ता। 'जो होना चाहिए उसको करना न्याय है' कहने पर भी मुख्य प्रश्न ज्यों का त्यों रह जाता है, केवल शब्द बदल जाते हैं। मुख्य प्रश्न का नया रूप यह हो जाता है 'क्या होना चाहिए?' 'क्या किया जाना चाहिए?' यह प्रश्न उस जाति का है जिसको विभज्यवचनीय कहते हैं। इसका एक उत्तर नहीं हो सकता। परिस्थिति के अनुसार कर्त्तव्य का स्वरूप बदलता रहेगा, अर्थात् प्रश्न का उत्तर बदलता रहेगा। तब हमको प्रश्न को व्यापक रूप देकर व्यापक उत्तर ढूँढ़ने के स्थान में प्रत्येक अवसर पर यह पूछना पड़ेगा कि 'इस अवसर पर क्या किया जाना चाहिए?' इसका जो निर्णय होगा वही उस अवसर के लिए न्याय होगा। यह बात ठीक तो है परन्तु अवसर विशेष पर कर्त्तव्य का निश्चय होगा कैसे? यदि इस प्रकार के निश्चय के लिए कोई ऐसी कसौटी न मिल सकी जो सर्वमान्य हो तो फिर प्रत्येक व्यक्ति अपने तात्कालिक रागद्वेष के अनुरूप निर्णय करेगा और जिसे एक न्याय कहेगा उसे ही दूसरा अन्याय कहेगा। इस प्रकार तो न्याय शब्द ही अर्थहीन हो जायगा और लोकबुद्धि को उसके प्रति जो श्रद्धा है वह निराश्रय हो जायगी। परन्तु आज तक श्रद्धा चली आ रही है, यद्यपि पदे-पदे अन्याय की ठोकरें खानी पड़ती हैं। इससे यह विदित होता है कि लोगों के चित्त में किसी न किसी प्रकार की सार्वभौम परख है, चाहे वह उसको ठीक-ठीक शब्दों में परिभाषा के रूप में व्यक्त न कर सकते हों। न्याय के स्वरूप को पहचानने के लिए हमको इसी अव्यक्त विचार की खोज करनी है।

पहले ईश्वरीय न्याय को लीजिये। यहाँ पहले ही यह प्रश्न उठ सकता है कि ईश्वर की सत्ता का क्या प्रमाण है और यदि वह है भी तो जगत् से उसका कैसा सम्बन्ध है? यह महत्त्व के प्रश्न हैं पर यहाँ हमको इन पर विचार करने की आवश्यकता नहीं है। ईश्वर हो या न हो परन्तु हिन्दू, बौद्ध, जैन, पारसी, ईसाई और मुसलमान, यहूदी थोड़े में वह सब लोग जो अपने को किसी धर्म्म या सम्प्रदाय के अन्तर्गत मानते हैं, ऐसा स्वीकार करते हैं कि कुछ कर्म्मों का, जिनको वह सत्कर्म्म कहते हैं, अच्छा और दूसरे कर्म्मों का जिनको वह दुष्कर्म्म कहते हैं, बुरा परिणाम होता है। सत्कर्म दुष्कर्म की सूचियों में और अच्छे बुरे परिणामों के स्वरूप कथन में आपस में मतभेद हो सकता है परन्तु इतना यह सब मानते है कि भलाई का पुरस्कार और बुराई का दण्ड मिल कर रहता है। यही ईश्वरीय न्याय, दैवी न्याय, कर्म का अटल विधान या नियति है। नियति किसी के लिए बदल नहीं सकती। यदि ऐसा होने लगे कि किसी व्यक्ति विशेष को बुरे काम का दण्ड न मिले या अच्छे काम का पुरस्कार न मिले या, इसके विपरीत, अच्छे काम के लिए दण्ड और बुरे काम के लिए पुरस्कार मिले, तो नियति की शृङ्खला टूट जायगी। लोगों को यह दृढ़ विश्वास है कि शृङ्खला कभी नहीं टूटती। भले ही पुरस्कार और दण्ड हमारी आँखों के सामने तत्काल न मिलते हों पर दूध का दूध पानी का पानी होकर रहता है। अच्छे बुरे कामों के सम्बन्ध में प्रत्येक सम्प्रदाय का धर्म्म-शास्त्र आदेश देता है और प्रत्येक ऐसे आदेश का यह दावा है कि या तो वह ईश्वरप्रेरित है या किसी ऐसे महात्मा की घोषणा है जो एक प्रकार से ईश्वरकल्प कहा जा सकता है। इस विषय पर बहुत विस्तार से तो विचार नहीं करना है पर यहीं छोड़ देना भी ठीक न होगा। इसलिए मैं संक्षेप में एतत्सम्बन्धी वैदिक मत का वर्णन कर देता हूँ। थोड़े से हेरफेर में अन्य सभी सम्प्रदायों के मत इसी के भीतर आ जाते हैं।

इस जड़चेतनात्मक जगत् के मूल में एक ही पदार्थ है। जड़ और चेतन, प्रधान और पुरुष, उसी की अभिव्यक्तियाँ है। जड़ चेतन के आघात-

प्रतिघात से जगत् का संकोच विकास होता रहता है। जहाँ उस मूल पदार्थ के जड़ और चेतन दो रूप हैं वहाँ उसका एक तीसरा रूप भी है जिसे कर्म या नियति कहते हैं। इसके भी दो रूप हैं, ऋत और सत्य। प्राकृतिक जगत् में ऋत का साम्राज्य है। परमाणु का स्फुरण, विद्युत, प्रकाश, ताप और शब्द का स्पन्दन; *प्रवह के द्वारा नीहारिकाओं और नक्षत्रों का परिचालन, भोजन का पचना और पत्ते का खड़कना, यह सब ऋत के अनुसार होता है। जहाँ नियम देख पड़ता है वहाँ भी ऋत है और जहाँ हमको अपवाद सा जान पड़ता है वहाँ भी ऋत है। मनुष्य भी ऋत के बाहर नहीं है। उसकी अवहेलना करने का परिणाम व्याधि, पीड़ा और मृत्यु है परन्तु उसको पहिचान कर उसका अनुसरण करने से विभूति और सुख की प्राप्ति होती है। विज्ञान का उपयोग इस बात का प्रमाण है। परन्तु ऋत केवल भौतिक जगत् में काम नहीं करता। इन्द्रियों का विषयों से आकृष्ट होना, चित्त में क्लिष्टाक्लिष्ट वृत्तियों का उठना, अनुभवों से सामान्य स्मृति का और उस अस्फुट स्मृति का, जो जन्मान्तर तक संस्काररूप से बनी रहती है, उत्पन्न होना, संस्कारों के कारण वासनाओं का उदय होना, यह सब भी ऋत के अधीन है। जो व्यक्ति ऋत के इस अंश को पहिचानता है वह कुशल कलाकार, राजपुरुष, प्रचारक, शिक्षक और व्यवहारविद् होता है। परन्तु केवल ऋत की सत्ता को स्वीकार करने या उसके स्वरूप को थोड़ा-बहुत पहिचान लेने से काम नहीं चलता। इसका परिणाम भयंकर हो सकता है। आज का इतिहास इस बात का साक्षी है कि भौतिक विज्ञान और मनोविज्ञान की सहायता से दुरुद्देश्य-प्रेरित अधिकारी मनुष्य समाज का घोर अनर्थ कर सकते हैं। यह सब

---

* प्रवह—पुरानी पुस्तकों में लिखा है कि ग्रह-नक्षत्र प्रवह वायु द्वारा परिचालित होते हैं। यदि वायु का अर्थ हवा हो तब तो यह कथन अवैज्ञानिक है परन्तु 'भारतीय सृष्टिक्रम विचार' में मैंने दिखलाया है कि वायु का अर्थ शक्ति है। अतः प्रवह वायु आकर्षण जैसी उन शक्तियों के समुच्चय का नाम है जिसने इन पिण्डों को गति दे रक्खी है।

इसीलिए होता है कि केवल ऋत से काम लिया जा रहा है। इस बुराई को दूर करने के लिए उस तत्त्व पर जो नियति का दूसरा रूप है, जिसका ऋत के साथ वैसा ही सहज सम्बन्ध है जैसा कि पैसे के एक पट का दूसरे पट से होता है, दृष्टि डालनी होगी। यह तत्व सत्य है। सत्य का अर्थ सच बोलना या वस्तुस्थिति मात्र नही है। जिस मार्ग का अवलंबन करने से मनुष्य का कल्याण होता है उसका नाम सत्य है। ऋत और सत्य का अटूट सम्बन्ध है। हमारे आचरण से ऋत अर्थात् बौद्धिक और भौतिक जगत् प्रकम्पित होता है और ऋत की परिधि के भीतर ही हमारा आचरण हो सकता है।

सत्य का लक्षण हमने यह बतलाया है कि उससे कल्याण होता है। इस बात को समझने के लिए कल्याण के स्वरूप को जानना आवश्यक होता है। कल्याण या निःश्रेयस दर्शन का मुख्यतम विषय है परन्तु यहाँ हम उस शास्त्रार्थ में नहीं पड़ सकते। इतना कहा जा सकता है कि कल्याण का एक बड़ा लक्षण यह है कि उसमें दुःख का अत्यन्ताभाव, आंशिक नहीं सम्पूर्ण अभाव, होता है। दूसरा बड़ा लक्षण यह है कि मनुष्य अपने स्वरूप का, अपनी शक्तियों का, पूरा-पूरा निर्बाध अनुभव करता है। इसका निष्कर्ष यह निकला कि जिस मार्ग से व्यवहार करने से इस दुःख-हानि और स्वरूपानुभव की प्राप्ति हो वह सत्य है। सत्य का बहुत कुछ ज्ञान गम्भीर विचार से प्राप्त होता है। संक्षेप में, उसको व्यास के शब्दों मे 'आत्मनः प्रतिकूलानि, परेषु न समाचरेत्' (जो अपने को अच्छा न लगे वह आचरण दूसरों के साथ न करे) या ईसा के शब्दों में 'दूसरों के साथ वैसा ही प्रेम करो जैसा तुम अपने साथ करते हो' कह कर व्यक्त कर सकते है। इसी को वेदान्त के आचार्य यों कहते हैं "जहाँ द्वैतबुद्धि है वही दुःख और भय है। जब तक द्वैत का अज्ञान रहेगा तब तक दुःख का अन्त नहीं हो सकता। इस अज्ञान को दूर करना ही निःश्रेयस है। सर्वत्र अपनी ही आत्मा का आभास देखना सत्य का मार्ग है।" इसका तात्पर्य यह है कि वह आचरण जो मैं-तू, मेरा-तेरा के भेद-भाव पर अवलम्बित, दुःख-

परिणामी और सत्यविरोधी है। जो आचरण इसके ऊपर उठता है वह कल्याणकारी और सत्यानुकूल है। जो मनुष्य जितना ही अपने चित्त को संयत करता है और सत्यानुगामी होता है उसको ऋत और सत्य का उतना ही गम्भीर ज्ञान होता है। ऋत और सत्य का दूसरा नाम धर्म भी है, इसलिए इस प्रकार के ज्ञान को धर्म का साक्षात्कार भी कहते हैं। योगियों को धर्म का यथावत् और परिपूर्ण साक्षात्कार होता है। वह नियति के स्वरूप के यथार्थ ज्ञाता होते हैं।

जो लोग ईश्वरीय या दैवी न्याय या कर्मविधान का नाम लेते हैं उनका आशय यह होता है कि जगत् में ऋत और सत्य बराबर काम करते हैं। कोई इनका उल्लंघन नहीं कर सकता। जिस प्रकार आग पर रखने से हाथ जल जायगा, छत पर से कूदने से शरीर नीचे गिरेगा, पानी न देने से पौधा सूख जायगा, हवा न मिलने से मृत्यु हो जायगी उसी प्रकार कोई भी ऐसा आचरण जिसके मूल में राग और द्वेष हो, अर्थात् जिसका यह लक्ष्य हो कि मुझको अमुक वस्तु प्राप्त हो, चाहे दूसरों को न मिले, हानिकर, दुःखकर होगा। जितनी ही मात्रा दूसरों से छीनने या दूसरों को न मिलने देने के भाव की होगी उतनी ही मात्रा परिणाम में दुःख की होगी। दुःख भी कुछ तो आधिभौतिक और आधिदैविक होते हैं अर्थात् बाहर से पहुँचाये जाते हैं और कुछ आध्यात्मिक होते हैं। ईर्ष्या और चिन्ता से मन ही मन जलना तथा राग-द्वेष की उग्रता से कलुषित हुई बुद्धि से प्रेरित होकर ऐसे काम कर बैठना जिनका अवश्यम्भावी परिणाम आधिभौतिक या आधिदैविक दुःख हो, आध्यात्मिक दुःख का स्वरूप है।

अस्तु, तो जहाँ तक ईश्वरीय न्याय का प्रसङ्ग है वहाँ ऐसा माना जाता है कि ऋत और सत्य अर्थात् धर्म का अनुसरण नियति के अनुकूल है, इसलिए उचित और कर्त्तव्य है। जो धर्माचरण करता ह वह इसका पुरस्कार पाता है अर्थात् दुःख और अज्ञान के ऊपर उठता है और जो इसके विरुद्ध आचरण करता है वह निरन्तर एक दुःख से दूसरे दुःख के चंगुल में फँसता रहता है। इस क्रम में कभी व्यवच्छेद नहीं होता। इस न्याय का यही

स्वरूप है। इसको ईश्वरीय न्याय भले ही कहा जाय परन्तु ईश्वरोपासना से इसका कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। न उपासक के लिए नियम में किसी प्रकार की रत्ती भर ढिलाई हो सकती है न अनुपासक के लिए अधिक कड़ाई, न ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करने के लिए कोई विशेष पुरस्कार मिलता है न उसको अस्वीकार करने के लिए कोई विशेष दण्ड।

राज और न्याय

अब हमको न्याय के उस बड़े क्षेत्र पर दृष्टि डालनी है जिसका सम्बंन्ध राज से है। जन-साधारण की ऐसी धारणा है कि राज का आधार न्याय है, अर्थात् जब राज के सामने दो व्यक्ति आते हैं तो वह उनके विवाद को न्याय के अनुसार निपटाता है। दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि जो उचित होता है, जो करना चाहिए, राज उसे ही करता है। यदि ऐसा नहीं होता तो लोग कहते हैं कि अन्याय हो रहा है। देखना यह है कि उस न्याय का, जिसकी आशा राज से की जाती है, आधार क्या है। दूसरे शब्दों में, इस बात की परख क्या है कि राज न्याय कर रहा है? इसके लिए एक उत्तर यह दिया जाता है कि न्याय वह व्यवस्था है जिसमें सब अपने अधिकारों का उपभोग करते हैं और यदि कोई किसी के अधिकार पर हस्तक्षेप करता है तो उसे समुचित दण्ड दिया जाता है। न्याय के इस लक्षण के सम्बन्ध में कुछ प्रश्न स्वभावतः उठते हैं (१) लोगों के अधिकार हैं क्या? उनका स्रोत क्या है? (२) वह 'सब' लोग कौन हैं जिनके अधिकारों की रक्षा राज करता है? (३) समुचित दण्ड किसे कहेंगे? (४) कोई राज सचमुच सबके अधिकारों की इस प्रकार रक्षा करता है? और (५) किस अवस्था में राज इस कर्तव्य का पालन कर सकता है?

बहुत से विद्वानों का यह मत है कि अधिकारों का स्रोत स्वयं राज है। जो जंगली पशु स्वच्छन्द घूमा करते हैं उनके अधिकार नहीं होते। उनके लिए बाहुबल का ही दूसरा नाम अधिकार है। यदि

मनुष्य भी कभी यों ही रहा करते थे तो उस समय उनके भी कोई अधिकार न थे। समाज में एक दूसरे के साथ मिलकर रहने से और इस प्रकार अपनी स्वच्छन्दता खोने से ही अधिकारों की उत्पत्ति होती है। अधिकारों की रक्षा के लिए मनुष्य का जो संघटन है उसका ही नाम राज है। हमारे एक दूसरे के साथ अध्यापक और छात्र, उत्पादक और ग्राहक, स्वामी और भृत्य, पति और पत्नी इत्यादि अनेक प्रकार के सम्बन्ध हैं। इन सम्बन्धों के कारण हम एक दूसरे के साथ अनेक प्रकार के व्यवहार करते रहते हैं। प्रत्येक मनुष्य चाहता है कि दूसरे मेरे साथ अमुक अमुक प्रकार से व्यवहार करें। पर यह इच्छा सदा फलीभूत नहीं होती। ऐसी दशा में राज के पास जाना पड़ता है। राज मेरे साथ जिस प्रकार का व्यवहार करने के लिए लोगों को बाध्य करता है वही मेरा अधिकार है। धर्मशास्त्र, पंचायत, स्थानीय प्रथा आदि चाहे जो कुछ कहें परन्तु जो बात राज को मान्य नहीं है, जिस बात के पीछे राज अपनी शक्ति लगाने को तैयार नहीं है, वह अधिकार कोटि में नहीं है। यह अनिवार्य नहीं है कि राज ने प्रत्येक विषय पर स्वयं विधान बनाया हो। बहुत से स्थलों पर राज अपने बनाये क़ानूनों के अभाव में धर्मशास्त्र या दस्तूर के अनुसार काम करता है परन्तु शास्त्र या दस्तूर को मान्यता राज से ही प्राप्त होती है। अधिकार का प्रतियोगी कर्त्तव्य होता है। जहाँ एक के अधिकार का निर्देश होता है वहीं दूसरे के कर्त्तव्य का भी संकेत हो जाता है। यदि ज़मींनदार को यह अधिकार है कि भूमि के किसी टुकड़े के लिए १५) लगान ले तो किसान का यह कर्त्तव्य है कि उस टुकड़े के लिए १५) दे। इस प्रकार कर्त्तव्यों का उद्गम भी राज ही हुआ। जिस काम को अपनी शक्ति लगाकर कराने को राज तैयार हो वह कर्त्तव्य है। चाहे वह काम राज के बनाये किसी विधान में स्पष्ट रूप से उल्लिखित हो या धर्मशास्त्र या दस्तूर से निर्गत हुआ हो, उसकी कर्त्तव्यता अन्ततोगत्वा राज से ही प्राप्त हुई है। राज प्रजा पर बन्धन लगाता है, उस पर स्वयं कोई बन्धन नहीं होता। जब तक उसके हाथ में शक्ति है, जब तक वह

अपनी आज्ञा मनवा सकता है, तब तक अधिकार और कर्तव्य निश्चित करने में वह स्वतंत्र और अबाध है। यदि राज चाहे तो ऐसा क़ानून बना सकता है कि जिस किसी को किसी गायक का आलाप नापसन्द हो उसके मना करने पर गानेवाले को चुप हो जाना चाहिए। इस प्रकार गाने के द्वेषियों को एक नया अधिकार मिल जायगा। राज चाहे तो ऐसा विधान कर सकता है कि प्रत्येक पहली सन्तान नदी में फेंक दी जाय। जनता को तत्काल ही एक नया कर्तव्य मिल जायगा। ऐसे क़ानून प्रायः नहीं बनते पर बन सकते हैं। पृथिवी पर समय-समय पर विचित्र विधान रहे हैं। इसी भारत में एक जैन राजा कपड़े में से जुएँ मारने पर मनुष्य को मरवा डालते थे। इस मत का निष्कर्ष यह निकला कि जो कुछ राज की इच्छा के अनुकूल है वह न्याय है क्योंकि राज उसी का समर्थन करेगा, लोग उसी का उपभोग कर सकेंगे।

जब यह बात इस रूप में कही जाती है तो कुछ लोगों को शंका होने लगती है। होनी भी चाहिए। 'राज की इच्छा' से क्या तात्पर्य है? राज तो व्यापार संघ, सहयोग समिति, मजदूर सभा आदि की भाँति एक संघटन है जिसका अपने सदस्यों से भिन्न कोई शरीर नहीं है। फिर वह इच्छा कैसे कर सकता है? यह स्पष्ट है कि 'राज की इच्छा' कहने से उन लोगों की इच्छा की ओर संकेत किया जा रहा है जिनको सरकार कहते हैं। सरकार कोई एक व्यक्ति हो या कई व्यक्तियों का समुदाय पर राज का वही प्रतीक होता है और राज के नाम पर सब काम करता है। उसी की इच्छा राज की इच्छा कही जा सकती है। मृत्यु तथा अन्य कारणों से सरकारें बदलती रहती हैं, इसलिए राज की इच्छा भी बदलती रहती है और इसका परिणाम यह होगा कि न्याय का स्वरूप भी बदलता रहेगा। उसकी कोई निश्चित कसौटी न होगी वरन् जिस समय सरकार की जैसी इच्छा होगी उस समय वैसा न्याय होगा। इसका अर्थ यह हुआ कि राज कभी अन्याय कर ही नहीं सकता क्योंकि वह अपनी ही इच्छा के प्रतिकूल काम कर नहीं सकता। जब राज अन्यायी हो ही नहीं सकता

तब राजद्रोह करने या अन्य किसी प्रकार से राजाज्ञा का विरोध करने का प्रश्न उठना ही न चाहिए। साधारण मनुष्य अज्ञान और रागद्वेष से दबा रहता है; उसका तामस, अधम, 'स्व' उसके सात्विक, उत्तम 'स्व' को अभिभूत रखता है, इसीलिए उसे अपने भले बुरे को समझने की क्षमता नहीं होती। यदि वह ज्ञानपूर्ण और निष्पक्ष बुद्धि से विचार करे तो उसको यह विदित हो जायगा कि राज की इच्छा उसकी उत्तम 'स्व' की इच्छा से, उसकी वास्तविक इच्छा से, अभिन्न है, राज की इच्छा उसकी अपनी इच्छा है। ठण्डे मन से विचार करने पर चोर उस क़ानून का समर्थन करेगा जिसके अनुसार वह दण्ड पा रहा है।

यह तर्क उस शंका का समाधान नहीं करता जो 'राज की इच्छा' का नाम सुनकर उत्पन्न हुई थी। यह मानना कठिन ही नहीं वरन् असम्भव है कि राज की इच्छा का, जो वस्तुतः तत्कालीन सरकार की इच्छा है, समर्थन प्रत्येक नागरिक की शुद्ध बुद्धि करेगी। यह कैसे माना जाय कि औरङ्गजेब की हिन्दू प्रजा की सात्विक बुद्धि जजिया कर और मन्दिरों के ढहाये जाने का समर्थन करती? यह कैसे कहा जाय कि आज अँगरेज़ी साम्राज्यशाही को भारतीय उत्तम 'स्व' का आशीर्वाद मिल रहा है या यहूदियों की निष्पक्ष बुद्धि उस व्यवहार का अभिनन्दन करती है जो नात्सी सरकार उनके साथ कर रही है? जो लोग सरकार में होते हैं वह ऋत और सत्य को पहिचाननेवाले, धर्म्मसाक्षात्कर्ता योगी महात्मा नहीं होते। रागद्वेष की दृष्टि से प्रायः उनमें और दूसरे मनुष्यों में कोई भेद नहीं होता। फिर उनकी बुद्धि पर इतना भरोसा कैसे किया जाय कि वह सदा सब के हित की ही बात सोच सकेंगे? जब इस प्रकार का भरोसा नहीं किया जा सकता तब फिर उनकी इच्छा को ज्यों का त्यों कैसे स्वीकार किया जा सकता है? जब शंका उत्पन्न हो गई तो फिर हमारे लिए यह देखना अनिवार्य्य हो गया कि राज की इच्छा जिन अधिकारों की रक्षा किया करती है वह कैसे अधिकार हैं और किनके अधिकार हैं। प्रसङ्गतः एक और प्रश्न भी उठ गया है। मैंने अभी 'सब के हित'

का चर्चा किया है। यह हित क्या हैं और इनका अधिकारों से क्या सम्बन्ध है?

मनुष्य का, कम से कम शरीर से अविकलांग और बुद्धि से स्वस्थ मनुष्य का, यह सब से पहला हित है कि उसका जीवनसूत्र अनुच्छिन्न रहे। इस सम्बन्ध में विवाद के लिए स्थल नहीं है। पौधे तक जीवित रहने का प्रयत्न करते हैं, कीड़े-मकोड़े तक मरने से बचना चाहते हैं। जब प्राणों पर आ बनती है तब दुर्बल से दुर्बल जीव लड़ने को उद्यत हो जाता है। जीवित रहने का अर्थ है भर पेट भोजन मिलना, पहिनने को ऋतु के अनुसार पर्य्याप्त वस्त्र मिलना और रहने को घर मिलना। करोड़ों मनुष्य इन चीजों के लिए तरसते मर जाते हैं। परन्तु विद्रोह करना तो दूर रहा अपने भाग्य या कर्म को ही कोस कर चुप रह जाते हैं। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि यह लोग भोजन-वस्त्र को अपना हित नहीं मानते। शासक और धनिक वर्ग भी यह नहीं कहता कि इन अभागों को यह चीजें नहीं मिलनी चाहिए थीं। अतः पूर्ण आयु तक जीवित रहना और भोजनादि जीवन के साधनों का उपभोग करना प्रत्येक मनुष्य का हित है। लोग बहुत कुछ चुपचाप सह लेते हैं परन्तु जब जीवन पर आघात होने लगता है तो फिर सहनशीलता का अन्त हो जाता है। जीवित रहने की वासना के समान ही एक और प्रबल वासना है। मेरा संकेत रति-प्रवृत्ति से है। यह वासना भी प्राणिमात्र में है और यह कहना कठिन है कि इन दोनों वासनाओं में कौन अधिक बलवती है। इसकी प्रेरणा से मनुष्य भोजनादि ही नहीं जीवन तक को जोखिम में डाल देता है। ऐसे लोग भी इसके वश में आ जाते हैं, जो यह खूब जानते हैं कि इसके परिणामस्वरूप यदि सन्तान हो गई तो उसका भरण-पोषण कर सकना उनके सामर्थ्य के बाहर है। यदि इसके लिए व्यवस्था न रहे तो समाज में शान्ति नहीं रह सकती। जहाँ दासता प्रथा चालू होती थी वहाँ भी गुलामों को विवाह करने का अवसर दिया जाता था। यदि ऐसा न किया जाता तो गुलाम पागल पशु हो जाते और मालिकों

की सुख-शान्ति को नष्ट-भ्रष्ट कर देते। अतः मनुष्य का यह भी एक हित है कि उसे विवाह करने और सन्तान उत्पन्न करने का अवसर मिले।

यहाँ तक तो हम ऐसे विचारक्षेत्र में थे जो प्रायः विवादशून्य है। इस 'प्रायः' का अर्थ आगे चलकर स्पष्ट होगा। परन्तु यहाँ से आगे मत-वैषम्य आरम्भ होता है। प्रत्येक मनुष्य कुछ सहज प्रवृत्तियों और योग्यताओं को लेकर आता है। यदि उसको इन प्रवृत्तियों के अनुसार काम करने और इन योग्यताओं को विकास देने का अवसर मिलता है तो उसकी आत्मा जैसे भीतर से विकसित हो उठती है, उसको एक प्रकार के अनन्य-साधारण सुख का अनुभव होता है। इसके विपरीत यदि अवसर न मिला तो आत्मा भीतर ही संकुचित हो जाती है और सारा जीवन बिसूरने में ही जाता है। इससे व्यक्तियों के साथ-साथ समाज की भी क्षति होती है। जिसके भीतर कुशल अध्यापक होने की योग्यता है यदि वह जूतों की मरम्मत करने के काम में लगाया जाय तो उसका जीवन तो अशान्ति में बीतेगा ही पर उसके इच्छाभिघात का परिणाम दूसरों को भी भुगतना पड़ेगा। समाज को जहाँ एक कुशल अध्यापक मिलता वहाँ एक अकुशल मोची मिलता है। दुहरी हानि होती है। अपनी योग्यता को पूरा-पूरा खिलने देने का अवसर न पाने से करोड़ों मनुष्य समाज की समुचित सेवा करने से वंचित रह जाते हैं। योग्यता और प्रकृति को अवसर मिलने के लिए दो बातें आवश्यक हैं। पहली बात यह है कि शिक्षा में कोई प्रतिबन्ध न हो। बच्चा किसी कुल और जाति में जन्म ले, उसके माता-पिता चाहे जो और जैसे हों, बच्चे को अपनी योग्यता के अनुसार ऊँची से ऊँची शिक्षा बेरोकटोक मिले। सब की योग्यता एक-सी नहीं होती, इसलिए न तो सब को एक ही प्रकार की शिक्षा चाहिए, न सब लोग शिक्षा की किसी दिशा में समान मर्यादा तक जा सकते हैं परन्तु बाहरी कारणों से किसी की उन्नति में रोध न होना चाहिए। दूसरी बात यह है कि शिक्षा पाने के बाद योग्यता के अनुसार काम मिलना चाहिए। यदि

काम देने में योग्यता को छोड़कर कुल या जाति या किसी अन्य बात को ध्यान में रक्खा गया तो शिक्षा का प्रबन्ध करना बेकार है। यहाँ पर मैं चरित्र को भी योग्यता में अन्तर्भूत कर रहा हूँ। यह सत्य है कि केवल पुस्तकी पढ़ाई चरित्र के निर्दोष होने का प्रमाण नहीं होती पर यह भी सत्य है कि केवल कुल और जाति से चरित्र नहीं बनता। हमारे जेलों में बहुत से क़ैदी उन्हीं जातियों के होते हैं जो ऊँचे माने जाते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि योग्यता की पूरी-पूरी परीक्षा कर लेनी चाहिए परन्तु परीक्षा के बाद मनुष्य को अपनी योग्यता से काम लेने का अवसर मिलना चाहिए। इस प्रकार शिक्षा पाने और काम करने का अवसर पाने से मनुष्य की पूरी आत्माभिव्यक्ति होती है। यह आत्माभिव्यक्ति भी मनुष्य का हित है। पहले जिन दो हितों का वर्णन हुआ है वह स्वतः उपादेय होते हुए भी इस तीसरे हित के लिए साधनस्वरूप हैं।

देखने में ऐसा प्रतीत होता है कि इस तीसरे हित की सत्ता भी बिना विवाद के स्वीकार होनी चाहिए। इसमें समाज का भला देख पड़ता है। परन्तु इसके सर्वसम्मत होने में कुछ अड़चनें पड़ती हैं। भिन्न भिन्न समयों और देशों में समाज में कुछ विशेष लोगों को प्रधानता प्राप्त रही है। यह प्रधानता किसी समुदाय विशेष को कैसे प्राप्त हो जाती है यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न है पर इस स्थल पर विचार करना अनावश्यक है। जिस समुदाय को प्रधानता प्राप्त हो जाती है वह अपने और अपने वंशजों के लिए उसे अक्षुण्ण बनाये रखना चाहता है। इसका उपाय यही है कि शिक्षा मुख्यतया अपने भीतर ही बाँध रक्खी जाय और उन कामों के करने का अवसर भी अपने को ही मिले जिनमें अधिक दायित्व, उपक्रम और योग्यता की ज़रूरत पड़ती है। औरों का आत्माभिसंकोच भले ही हो पर अपने स्वार्थ की रक्षा का यही उपाय है। पर यह बात प्रायः इस स्थूल रूप में नहीं कही जाती। यह सिद्धान्त मान लिया जाता है कि सबकी आत्माभिव्यक्ति होनी चाहिए। इसके आगे यह कहा जाता है कि हम परीक्षा करके देख

चुके हैं कि किस समुदाय में कहाँ तक आगे बढ़ने की योग्यता है। इसके आगे ले जाने का परिश्रम व्यर्थ जायगा। उस व्यक्ति का आयास निष्फल होगा, समाज को निष्कारण व्यय उठाना पड़ेगा और चतुर्दिक अशान्ति बढ़ेगी। हिन्दू समाज के ऊँचे वर्ग शूद्रों के साथ शत्रुता का प्रदर्शन नहीं करते थे। उनका कहना यह था कि चाहे जितना परिश्रम किया जाय यह लोग द्विजों के बराबर नहीं उठ सकते। प्राचीन यूनान के बड़े से बड़े दार्शनिक ऐसा मानते थे कि लाख उपाय करने पर भी गुलामों की सन्तान उन स्थानों पर बैठने योग्य नहीं हो सकती थी जो यूनानी नागरिकों को प्राप्त थे। यूनानियों का आज एशिया और अफ्रीकावालों के साथ जो व्यवहार है वह इसी मनोवृत्ति का परिचय देता है। गधे को घोड़ा कदापि नहीं बनाया जा सकता। उसकी आत्माभिव्यक्ति इसी में है कि अच्छा गधा बन सके। कहने का यह ढंग भी पुराना हो गया है। यह कहने से कि अमुक समुदाय के लोग जन्मना नीच हैं, मनमुटाव और अशान्ति बढ़ती है, इसलिए आज-कल ऐसा कहने का चलन उठता जाता है। यह बात स्वीकार कर ली जाती है कि सबको आत्माभिव्यक्ति का पूरा अवसर मिलना चाहिए परन्तु जिन लोगों को प्रधानता प्राप्त हो गई है वह यथा-साध्य इस बात का पूरा प्रयत्न करते हैं कि सिद्धान्त सिद्धान्त ही रह जाय, व्यवहार में न आने पाये। यदि इतने पर भी कोई बन्धनों को तोड़ता-फोड़ता ऊपर उठ ही जाता है तो उसका स्वागत करके अपनी प्रशंसा की जाती है। यह कहा जाता है कि हमारी व्यवस्था इतनी अच्छी है कि योग्य मनुष्य को रुकावट नहीं पड़ती। नीचे योग्य मनुष्य हैं ही कम, नहीं तो वह भी ऊपर आ सकते थे। इस बात में इतनी सत्यता तो है कि जो बहुत ही उत्कृष्ट स्वत्व होते हैं उनको कोई दबा नहीं सकता पर ऐसे लोग तो करोड़ों में एक-दो होते हैं। जो समुदाय किसी प्रकार ऊपर उठ गये हैं उनमें भी ऐसे अतिपुरुष यदा-कदा ही जन्म लेते हैं। आपत्ति यह है कि उन बहुत से मध्यम कोटिवालों का हनन हो जाता है जो समाज के उपयोगी अंग बनने की योग्यता रखते हुए भी इतने बलवान नहीं होते

कि समाज के लगाये हुए सब बन्धनों को तोड़ सकें। मैं इतना स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि यहाँ 'काम' शब्द का प्रयोग केवल व्यवसाय या जीविका के अर्थ में नहीं किया गया है। उसकी दृष्टि कला, राजनीति, साहित्य, थोड़े में जीवन के सभी अंगों पर पड़ती है।

मनुष्य एक और चीज का भी भूखा रहता है। उसको इस बात की जिज्ञासा रहती है कि यह जगत् क्या है, इसके पीछे कौन-सी शक्तियाँ काम कर रही हैं, मैं क्या हूँ, मरने के बाद क्या होगा, जगन्नियामक शक्तियों के साथ मेरा क्या सम्बन्ध है। इन बातों का ज्ञान उसको कुछ तो पुस्तकों से और मनन करने से प्राप्त होता है, कुछ उन उपायों से मिलता है जिनको सुगमता के लिए उपासना कह सकते हैं। ऐसा कहा जाता है कि उपासना में चित्त के एकाग्र होने पर इन प्रश्नों के यथार्थ उत्तर बुद्धि में स्वतः उदय होते हैं और ऋत सत्यमूलक धर्म का साक्षात्कार होता है। उस अवस्था में 'मैं पर' का भेद विलीन हो जाता है और एक अपूर्व आनन्द का अनुभव होता है। यह मनुष्य का आध्यात्मिक हित है। पूर्वोक्त तीनों हित इससे निम्नकोटि के हैं क्योंकि इसकी सिद्धि होने से मनुष्य अपने आपको पहिचान पाता है। हठ और आग्रह का कोई स्थान नहीं है। जिस किसी के चित्त में ऐसी जिज्ञासा उठे उसको इसे तृप्त करने का पूरा अवसर मिलना चाहिए।

स्वाभाविक बात तो यही प्रतीत होती है कि प्रत्येक मनुष्य को अपने हितों के उपभोग करने का अवसर मिलना चाहिए। ऐसा प्रबन्ध होना चाहिए कि समाज के अङ्गभूत सभी व्यक्ति अपने हितों को प्राप्त कर सकें और कोई किसी दूसरे की हित-प्राप्ति में बाधा न डाल सके। जहाँ ऐसा होगा वहाँ व्यक्तियों का समूह अर्थात् समाज भी सुखी और समृद्ध होगा। समाज का हित व्यक्तियों के हित से पृथक् नहीं हो सकता। हाँ, यह होता है कि हितों में तारतम्य होने से व्यक्ति बड़े हित के सामने छोटे हित को छोड़ देता है। जिस समय मनुष्य देशभक्ति या धर्म के नाम पर प्राण और सम्पत्ति को हँसते-हँसते तिलाञ्जलि दे देता है उस समय

उसको अपूर्व आत्माभिव्यक्ति और आनन्द की अनुभूति होती है। इससे यह बात निकलती है कि व्यक्तियों की हिततृप्ति की रक्षा होनी चाहिए। दूसरे शब्दों मे व्यक्ति के हित ही उसके प्राकृतिक अधिकार हैं। राज को इनकी रक्षा करनी चाहिए।

यदि यह बात मान ली जाय तो इसका निष्कर्ष यह निकलता है कि मनुष्य के कुछ नैसर्गिक अधिकार है जो उसको मनुष्य होने से ही प्राप्त हैं। वह अपने हितों को जन्म से ही अपने साथ लाता है। मूल वासनाओं की प्रबलता सबमें एक-सी नहीं होती, प्रवृत्तियों और योग्यताओं में भी भेद होता है, आध्यात्मिक खोज के संवेग में भी अन्तर होता है। इन्हीं बातों को यों कह सकते हैं कि प्रत्येक मनुष्य अपना पृथक् व्यक्तित्व रखता है। उसका यह सहज हित है कि उसके इस व्यक्तित्व की रक्षा हो और उसको विकास का अवसर मिले पर यह बात बिलकुल ठीक है कि .व्यक्तित्व की रक्षा भी समाज में रहकर ही हो सकती है और उसको विकास का अवसर भी समाज के भीतर ही मिल सकता है। समाज के बाहर रहनेवाला जीवन और मैथुन की वासनाओं को भले ही तृप्त कर ले परन्तु न तो उसकी आत्माभिव्यक्ति हो सकती है, न आध्यात्मिक उन्नति। समाज से कुछ काल के लिए पृथक् होकर एकान्त सेवन करना दूसरी बात है। समाज के बाहर कोई किसी दूसरे के साथ बँधा नहीं है, अपना बाहुबल ही अपना एकमात्र सहायक है। 'समाज में रहने से ही एक को दूसरे का खियाल करना पड़ता है, इसलिए समाज में ही अधिकार और कर्तव्य का प्रश्न उठ सकता है। समाज के बाहर न अधिकार है न कर्तव्य। समाज के भीतर सम्प्रदाय, जाति, व्यवसाय-संघ, राज आदि अनेक प्रकार के संघटन होते हैं। इनकी सदस्यता के कारण बहुत से विशेष अधिकार और कर्तव्य उत्पन्न होते रहते हैं और समय-समय पर बदलते रहते हैं पर यह सब अधिकार और कर्तव्य उस मूल अधिकार और कर्तव्य की शाखा-प्रशाखा-मात्र हैं जो समाज की सदस्यता से उत्पन्न होते हैं और जिनका मूल्य मनुष्य के वह हित हैं जो

सहज होने के कारण मनुष्य से पृथक् नही किये जा सकते। समाज के अंगभूत संव्यूहनों में राज सबसे बलशाली है। उसके ही ऊपर मनुष्य के मुख्य अधिकार, अर्थात् उसके .सहज हितों के संरक्षण और संवर्द्धन की रक्षा का भार है। अपने इस काम को सफलतापूर्वक पूरा करने के लिए राज बहुत से अवान्तर अधिकारों और कर्तव्यो को उत्पन्न करता है परन्तु इन सबके औचित्य की कसौटी यह है कि इनसे मुख्य उद्देश्य की सिद्धि हो और राज की न्यायशीलता इसी बात में है कि इस मुख्य अधिकार की रक्षा करे।

जिस अधिकार की मुख्यशः रक्षा होनी चाहिए उसका स्वरूप तो हमारे सामने आ गया। हमने यह देखा कि इसका उद्गमस्थान राज की इच्छा नही है। अब यह देखना है कि राज कहाँ तक इसकी रक्षा करता है और कर सकता है। यह भी समझ लेना चाहिए कि ऐसे प्रसङ्ग में जहाँ राज शब्द का व्यवहार होता है वहाँ तात्पर्य सरकार से होता है। तो फिर प्रश्न यह हुआ कि वह मनुष्य जो दूसरे मनुष्यों की भाँति ही शरीरधारी होते हैं और वैसी ही वासनाओं और इच्छाओं से प्रेरित होते हैं, शासनारूढ़ होकर कहाँ तक दूसरों के इस मूल अधिकार के रक्षक हो सकते है?

पृथिवी पर जितनी भी सरकारें है उनको तीन चार कक्षाओं मे बाँट सकते है। कहीं तो कोई व्यक्तिविशेष तलवार के बल पर शासनारूढ़ होता है। वहाँ वह व्यक्ति या उसके मरने पर उसके उत्तराधिकारी वस्तुतः सरकार होते है। उनके सचिवगण सरकार भले ही कहलायें परन्तु वह परामर्शदाता मात्र है। कहीं पर किसी संगठित दल के हाथ में शासन का सूत्र आ जाता है; वहाँ उस दल के प्रमुख नेता वास्तविक सरकार होते हैं। लोकतंत्र देशों में मत देनेवाले अप्रत्यक्ष रूप से सरकार को नियुक्त करते हैं। जिस दल को बहुमत मिलता है उसी के नेताओं की सरकार बनती है। किसी प्रकार की भी सरकार हो वह तभी तक शासन कर सकती है जब तक अपनी आज्ञा मनवा सके। साधारणतः लोग सरकार

की आज्ञाओं को मान लेते हैं। यदि एकाध आज्ञा पसन्द नहीं आती तो भी चुप रह जाते हैं पर सरकार को इस बात के लिए तैयार रहना ही पड़ता है कि स्यात् आज्ञा का विरोध किया जाय। उस समय उसको पुलिस और पुलिस के पीछे सेना से काम लेना पड़ता है। जब तक सैनिक बल है तभी तक शासन चल सकता है। आजकल सैनिक बल का महत्त्व पहले से अधिक हो गया है। पहले तो सरकारी सेना के पास जैसे शस्त्र होते थे वैसे ही शस्त्र जनता के पास भी होते थे पर आजकल सेनाओं के पास मशीनगन, तोप, हवाई जहाज़ और बम जैसे शस्त्र होते हैं जो जनसाधारण को अलभ्य हैं। यदि सरकार सेना को अपने साथ रख सके तो उसका विरोध करना बड़ा कठिन हो जाता है। कुछ विशेष परिस्थितियों को छोड़कर सफल विद्रोह हो ही नहीं सकता, इसलिए प्रत्येक सरकार सेना को, और विशेपकर सेनानायकों को, प्रसन्न रखना चाहती है। कोई भी सरकार हो, बल प्रयोग बचाती है पर उसे इसके लिए तैयार रहना पड़ता है। कुछ लोग यह आक्षेप करते हैं कि सरकार को कभी बलप्रयोग न करना चाहिए। सरकार लोगों के हितों की रक्षा करती है। यदि लोग उससे सन्तुष्ट नहीं हैं तो उसे हट जाना चाहिए। यह तर्क बहुत सारयुक्त नहीं है। यदि एक बार इसे मान लिया जाय तो थोड़े से शरारती मनुष्य किसी भी सरकार का चलना असम्भव कर देंगे। जब तक लोकमत का बड़ा अंश सरकार के साथ है तब तक वह थोड़े से विद्रोहियों को दबाना अपने लिए अनुचित न समझेगी और बहुपक्ष साथ होने का यही प्रमाण होगा कि यह बहुपक्ष विरोध नहीं करता। चाहे बहुपक्ष कायरता या प्रमाद या आलस्य के ही कारण चुप पड़ा रहे परन्तु सरकारें इसको अपना समर्थन ही मान लेती हैं। अस्तु, तो पहले तो कोई सरकार उन लोगों को अप्रसन्न करना नहीं चाहती जिनका सेना पर प्रभाव होता है। उन लोगों का साथ देना भी सरकार के लिए आवश्यक होता है जिनके धन या मत के बल पर उसकी स्थापना होती है। जहाँ सैनिक पक्ष और मतदाता पक्ष एक ही होता है वहाँ सरकार को बड़ी सुविधा होती है, इसीलिए प्रत्येक

सरकार सेना के अफ़सरों में अपने समर्थकों को नियुक्त करना चाहती है। परन्तु यदि यह दोनों पक्ष एक न हुए तो सरकार विषम स्थिति में पड़ जाती है। ब्रिटेन में सैनिक अफ़सरों में अधिकतर ज़मींदार और व्यवसायी घरानों के लोग हैं जो स्वभावत: पूँजीशाही और साम्राज्यशाही के समर्थक हैं। जब-जब वहाँ कोई ऐसी सरकार स्थापित हुई है जो थोड़ा-बहुत समाजवाद की ओर झुकी हुई थी तो उसको यह विश्वास नहीं रहता था कि सेना उसका पूरा-पूरा साथ देगी। १९९४ (अँगरेजी गणना से सन् १९३७ ई०) के चुनाव में युक्तप्रांत के अधिकांश मतदाता, जिनमें बहुत बड़ी संख्या हिन्दुओं की थी, कांग्रेस के पक्ष के थे, इसलिए यहाँ कांग्रेसी सरकार चुनी गई। परन्तु पुलिस के अफ़सरों में अधिकांश ज़मींदार और वकील घरानों के लोग थे जो कांग्रेस से दूर रहते हैं। इनमें भी मुसलमानों की संख्या बहुत बड़ी थी। इसलिए कांग्रेस सरकार को कभी इस बात का पूरा भरोसा नहीं रह सकता था कि पुलिस बराबर उसके साथ रहेगी। अनुभव ने इस आशंका को दृढ़ कर दिया। यह विशेष परिस्थितियाँ सरकार की कठिनाइयों को बढ़ा देती हैं परन्तु साधारण नियम यही है कि सरकार को सबसे पहले उन लोगों का ख़याल रखना पड़ता है जिनकी सहायता से वह स्थापित हुई है और जिनकी सहायता से वह अधिकारारूढ़ रह सकती है। साधारणत: सभी मनुष्यों में अभिमान की कुछ न कुछ मात्रा रहती है। शासकगण अपने मन को यों ही समझा लेते हैं कि हम जन-साधारण के नि:स्वार्थ हितू हैं अत: चाहे जैसे हो हमको शासनारूढ़ रहना ही चाहिए।

जब सरकार को अपने समर्थकों का विशेषरूप से लिहाज करना पड़ता है तो फिर उन लोगों की, जो उसके समर्थक नहीं हैं या खुलकर विरोधी हैं, क्या दशा होगी? सरकार का व्यवहार कभी पक्षपातरहित हो ही नहीं सकता। न्याय का स्वरूप यह बतलाया जाता है कि शेर और बकरी एक घाट पर पानी पिलाये जायँ, राजा और रंक, धनवान् और भिक्षुक के अधिकारों की समान रूप से रक्षा हो। ऐसी बातें सुनकर

नासमझ लोग झूम झूम उठते हैं। इसको रामराज्य कहा जाता है। आज से दीर्घकाल पहले राम के राज्य में क्या होता था इस बात को जानने की मुझे कुछ बहुत उत्सुकता नहीं है। यदि सचमुच राम ने अपने हाथ से तापस शूद्र को मारा था तो मुझे वैसा राज्य नहीं चाहिए। नाम कुछ भी हो न्याय का यह आदर्श श्लाघ्य नहीं है। बहती गंगा में शेर और बकरी को एक घाट पानी पिला देना बड़ी बात नहीं है पर जब पानी थोड़ा हो तब पहले किसको पानी मिलेगा? किसको प्यासा रहना होगा? भारत के राजे-महाराजे तो गुलाम हैं, इनकी क्या चर्चा की जाय परन्तु यूरोप और अमेरिका की सरकारें क्या पूँजीपतियों और श्रमिकों को एक ही आँख से देखती हैं? क़ानून क्या पूँजीपतियों की रक्षा को लक्ष्य करके नहीं बनाये जाते? यदि कभी हड़ताल हो जाती है तो पुलिस के डंडे किस पर पड़ते हैं? धनिक तो अपनी मोटर पर बैठकर अधिकारियों से मिल लेता है पर निर्धनों को तो भीड़ लगाकर पाँव प्यादे सड़कों पर ही चलना पड़ता है, इसलिए वही उपद्रवी कहलाते हैं, उन्हीं पर प्रतिबन्ध लगते हैं। राजा और सेठ के अधिकारों की बात तो समझ में आती है। उनकी समझ में उनका सबसे बड़ा अधिकार यह है कि उनकी परिस्थिति में परिवर्तन न हो; जो राजा है वह राजा, जो सेठ है वह सेठ बना रहे। परन्तु रंक और भिक्षुक के क्या अधिकार हैं जिनकी रक्षा रामराज्य का न्याय करेगा? यही, कि जो रंक है वह रंक बना रहे, जो भिक्षुक है वह भीख माँगता रहे? क्या समाज में रंक और भिखमंगे का होना ही सबसे बड़ा अन्याय नहीं है?

बात यह है कि इस वैषम्य के आधार पर अधिकारों और कर्त्तव्यों का बड़ा भारी आडम्बर रच दिया गया है और फिर इस कृत्रिम व्यूह की रक्षा को न्याय कहा जाता है। इस घटाटोप में मनुष्य का मूल अधिकार लुप्त हो गया। उस मूल अधिकार के स्वरूप को फिर से सोचिये। यदि सब लोगों के मूल हितों का सम्पादन करना है तो समाज का वर्तमान रूप रह नहीं सकता। जब सबको अपनी प्राकृतिक योग्यता के अनुसार पूरी-पूरी

शिक्षा मिलनी है और शिक्षा के उपरान्त अपनी क्षमता के अनुसार काम करना है तो फिर आज जैसी विषमता नहीं टिक सकती। जब तक ऐसी विषमता रहेगी कि थोड़े से मनुष्य भूमि और कल-कारखानों के पूरे स्वामी हों और दूसरे मनुष्यों के दैहिक और बौद्धिक बल का उपयोग करके लाभ का धन जमा करते जायें और उसको और धन कमाने का साधन बना सकें, तब तक यह सम्पन्न वर्ग सरकार की नकेल अपने हाथों में रखना चाहेगा और शासन इस विषमता को चिरस्थायी रखने का एक साधन बन जायगा। भोजन-वस्त्र, शिक्षा का प्रबन्ध सब के ही लिए होगा पर प्रबन्ध का मूलभूत सिद्धान्त यह रहेगा कि जब सिंह अपना भाग ले ले तब शेष को बकरियों में बाँट दिया जाय। सिंह का भाग कितना हो इसका निर्णय सिंह स्वयं करेगा। इस व्यवस्था के अनुसार समाज में रंक और भिक्षुक सदैव बने रहेंगे। इसका कारण यह नहीं है कि प्रकृति ने उन्हें बकरी बनाया है प्रत्युत यह कि उनको अपने उन गुणों को विकास देने का अवकाश ही नहीं मिला जो उनको इस हीन अवस्था के ऊपर उठा सकते। समाज की ऐसी भी व्यवस्था की जा सकती है जिसमें सबको पूरा अवसर मिले। मनुष्य-मनुष्य में भेद उस समय भी रहेगा परन्तु उसका कारण लोगों की योग्यताओं का प्राकृतिक भेद होगा। आज जो भेद है उसका आधार कृत्रिम है। एक ओर लोग अपनी योग्यताओं के अनुसार काम नहीं कर रहे हैं, दूसरी ओर अपनी आवश्यकताओं के अनुसार भोग नहीं कर सकते। भोजन जैसी वस्तु के सम्बन्ध में भी, जो प्राणिमात्र की मौलिक वासना का विषय है, कोई राज यह नहीं सोचता कि प्रत्येक नागरिक के लिए उसके शरीर और मस्तिष्क की आवश्यकता को देखकर व्यवस्था की जाय। इसीलिए हितों के प्रसंग में मैंने दोनों मूल वासनाओं के सम्बन्ध में 'प्रायः' शब्द का प्रयोग किया था। जो दबा हुआ है उसको सन्तोष करना चाहिए। राज्याधिकारी और धर्माधिकारी, दोनों मिलकर ऐसा ही उपदेश देते हैं।

इस विचार का परिणाम यह निकलता है कि वर्तमान सामाजिक व्यवस्था

के रहते हुए कोई राज न न्याय करता है न कर सकता है। जो सब से बड़ा अधिकार है उसकी उपेक्षा होती है। जिस विषमता के आधार पर समाज का संव्यूहन हो गया है उसको स्थिर रखते हुए जहाँ तक आंशिक न्याय हो सकता है उसकी आशा की जा सकती है। इस विषमता को बनाये रखने के लिए राज स्वयं बहुत से अधिकारों और कर्तव्यों को जन्म देता है। दीवानी, माल और फ़ौजदारी क़ानून का कलेवर इसी गाथा से भरा पड़ा है। यद्यपि सरकारी न्यायालयों में निर्धन का धनिक के सामने ठहरना बहुत ही कठिन है फिर भी इन कृत्रिम अधिकारों की रक्षा राज करता है और इसको न्याय कहता है। विषमता इस सारे न्याय का आधार है। राज प्राण नहीं दे सकता परन्तु सम्पत्ति को प्राण से अधिक मूल्यवान् ठहराता है। यदि कोई निर्धन मनुष्य अपने कई दिन से भूखे परिवार की क्षुधा-ज्वाला से व्यथित होकर किसी कुबेरकल्प साहूकार की जेब से कुछ पैसे निकाल ले तो उसको जेल भेजना न्याय कहा जाता है। इस प्रकार सम्पत्ति की रक्षा तो हुई परन्तु जिन लोगों की प्राणरक्षा के लिए चोरी की गई थी वह मरने न पावें, यह दायित्व राज का नहीं है। आजकल बहुत से सभ्याभिमानी देशों में इस बात की ओर ध्यान दिया जाने लगा है कि जो लोग बेकार हैं वह भूखों न मरें। इसका बड़ा भारी कारण यह है कि सम्पन्न वर्ग डरता है कि यह भूखे लूट-पाट मचा देंगे। इस प्रकार का प्रबंध यह सिद्ध नहीं करता कि अब विषमता मिटने जा रही है। उससे केवल धनिकवर्ग की सतर्कता का परिचय मिलता है।

मैं फिर दुहराता हूँ कि जैसे राज आजकल हैं और अब तक रहे हैं उनसे शुद्ध न्याय की आशा करना बालू में तेल ढूँढ़ना है। समाज में किसी न किसी वर्ग को प्राधान्य प्राप्त रहा है। धन के उत्पादन के साधनों पर उस वर्ग का जो आधिपत्य रहा है उसको बनाये रखने की इच्छा उसको स्वभावतः रही है। इस इच्छा की पूर्ति के लिए वह शासन का सूत्र प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अपने हाथों में रखता रहा है और सेना में प्रभावशाली पदों पर उसी के सदस्य होते रहे हैं। वह वर्ग राज की सारी शक्ति

लगाकर अपने इस स्थान को अटल रखना चाहता है। परन्तु अपने स्वार्थ की दुहाई खुलकर नहीं दी जाती। जन साधारण से यही कहा जाता है कि सब का कल्याण अपेक्षित है। पदारूढ़ वर्ग अपना नाम लेना तो दूर रहा, सरकार शब्द को भी बचाता है क्योंकि सरकार कहने से उन लोगों के व्यक्तित्व की ओर ध्यान चला जाता है जिनके हाथ में तत्कालीन शासन होता है। अव्यक्तवाची राज शब्द से काम लिया जाता है। लोगों से कहा जाता है कि राज की आज्ञा मानने में तुम्हारा लाभ है और यदि तुम अपनी बुद्धि शुद्ध कर सको तो तुमको प्रतीत होगा कि राज की इच्छा वस्तुतः तुम्हारी इच्छा है और राज जो कुछ करता है तुम्हारे हित के लिए करता है। यह बातें कुछ तो केवल प्रचार की दृष्टि से कही जाती हैं परन्तु इनके पीछे केवल दम्भ नहीं है। दूसरे को धोखा देने से पहले मनुष्य बहुधा अपने को धोखा दे लेता है। अपने सामने कोई पातकी नहीं बनना चाहता। अधिकारारूढ़ वर्ग अपने को समझा लेता है कि वह सचमुच सारी जनता का सच्चा हितैषी है और परार्थ के लिए राजभार ग्रहण कर रहा है। प्राचीनकाल में क्षत्रियों का ऐसा ही विश्वास था, पाश्चात्य देशों के पूँजीपति ऐसा ही मानते हैं, भारत के प्रति ब्रिटिश सरकार की ऐसी ही धारणा है। और यह जादू ऐसा विचित्र है कि अपने शिकार के सिर पर चढ़ कर बोलता है। जनसाधारण पर प्रचार का ऐसा गहरा प्रभाव पड़ता है कि वह इस बात पर विश्वास कर लेते हैं और अपने वञ्चकों को अपना अभिभावक मान लेते हैं। उनके लाभ और यशोवृद्धि के लिये देश-प्रेम के गीत गाते प्राण देते हैं। जब मौलिक वासनाओं की तृप्ति में बहुत बाधा पड़ती है तब जाकर मोहनिद्रा टूटती है।

राज उसी समय ठीक-ठीक न्याय करेगा जब उसमें इस प्रकार का वर्ग वैषम्य मिट जायगा, जब उत्पादन के मुख्य साधन सार्वजनिक सम्पत्ति हो जायँगे और मनुष्य के सहज हित उसके सहज अधिकार हो जायँगे। उस समय राज निष्पक्ष होकर अधिकार की रक्षा अर्थात् न्याय कर सकेगा। यदि कोई किसी के अधिकार में हस्तक्षेप करना चाहेगा तो उसे दण्ड भी

दिया जायगा पर दण्ड देते समय भी यह बात स्मरण रक्खी जायगी कि भ्रान्त होते हुए भी वह मनुष्य है अर्थात् वह भी सहज अधिकार चाहता है। अपराधी को दण्ड देते समय अपराधी के हित की ओर से आँख नहीं बन्द की जा सकती।

आजकल राज की ओर से न्याय होने में एक और अड़चन पड़ती है। शासन के ठीक अर्थात् न्यायानुकूल चलने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि राजकर्मचारी निष्पक्ष हों पर आजकल यह बात होना बहुत कठिन है। सिंह दो बकरियों के बीच में तो निष्पक्ष रह सकता है पर यदि एक सिंह और एक बकरी के मुक़दमे में उसे पंच बना दिया जाय तो निष्पक्ष रहना कठिन हो जायगा। वह जान-बूझकर बेईमानी न करे पर मन में बकरियों के सम्बन्ध में जो संस्कार जमे हुए हैं उनके ऊपर उठना सुकर नहीं होता। यदि सरकार किसी प्रकार निष्पक्ष भाव से काम करना भी चाहे तो उसके कर्मचारी निष्पक्ष नहीं हो सकते। वह उन्हीं घरानों से आये हैं जिनके हाथ में धन और अधिकार घूम फिरकर रहना है, इसलिए उनका चित्त अनायास ही उस पक्ष की ओर झुकेगा। यह बात अनुभवसिद्ध है। न्यायाधीश भी मनुष्य होते हैं। यदि उनके वर्ग-स्वार्थ उनकी बुद्धियों को प्रभावित करते हैं तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। जिस दिन समाज में वर्गभेद मिट जायगा उसी दिन निष्पक्ष कर्मचारी भी मिलेंगे।

वर्तमान सामाजिक व्यवस्था के प्रपोषकों की ओर से यह कहा जाता है कि किसी वर्ग-विशेष को दोष देना उचित नहीं है। विषमता की जड़ मनुष्य के स्वभाव में निहित है। कुछ लोग आलसी, व्ययशील, दैहिक और बौद्धिक बल से क्षीण होते है, ऐसे लोग परिश्रमी, मितव्ययी, बलशाली और दूरदर्शी व्यक्तियों के बराबर कदापि नहीं हो सकते। कैसी भी समता एक बार स्थापित कर दी जाय, थोड़े दिनों में फिर विषमता आ जायगी। इस कथन में थोड़ा-सा सत्य का अंश है, शेषांश अप्रासङ्गिक है। यह बिलकुल ठीक है कि सब लोगों की क्षमता एक सी

नहीं होती। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि सब की आवश्यकता भी एक सी नहीं होती। पर हम केवल अवसर की समता स्थापित कराना चाहते हैं, और कोई समता नहीं। दौड़ में सब बराबर नहीं आते पर किसी को दौड़ने से रोकना अनुचित है। शिकायत की बात यह है कि आज की व्यवस्था का परिणाम यह हो रहा है कि एक ओर तो योग्य व्यक्ति रोके जा रहे है दूसरी ओर अयोग्य व्यक्ति आगे बढ़ाये जा रहे हैं। अपने सहज गुणों का मूल्य कम और बड़े बाप का बेटा होने का मूल्य अधिक है। यह ठीक है कि मनुष्य में कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ भी हैं जिनके कारण अवसर मिलने पर भी कुछ लोग उसमे लाभ नही उठाते। ऐसे लोगों का प्रारब्ध इन्हें कभी आगे न बढ़ने देगा। पर इतने से ही हम हताश होकर नहीं बैठ सकते। मनुष्य में स्तेय और परस्त्रीगमन की भी प्रवृत्ति है परन्तु समाज इस बात का प्रयत्न करता है कि यथाशक्य यह प्रवृत्तियाँ जनहित में बाधा न डाल सकें। वह ऐसी व्यवस्था करने का यत्न करता है जिसमें ऐसी प्रवृत्ति वालों की सत्प्रवृत्तियाँ जाग कर इन कुप्रवृत्तियों को दबावें और यदि इसमे पूरी सफलता न भी मिले तो भी समाज को कम से कम क्षति उठानी पड़े। चोर का लड़का चोर ही होगा, ऐसा मानने से तो काम नहीं चलता। सब लोग जितेन्द्रिय महात्मा नहीं हो सकते परन्तु सबको ऐसा बनने का अवसर तो मिलना ही चाहिए। एक और बात है। प्राकृतिक विषमता समाज की उन्नति के लिए उपयोगी सामग्री है। सब लोग एक से हो जायँ तो मनुष्य-समाज कठपुतलियों का पुंज हो जाय। विषमता के कारण सब लोग मनुष्य-जाति की सर्वतोमुखी उन्नति में विभिन्न प्रकार से साधनीभूत हो सकते हैं पर आज इस विषमता से काम लिया ही नहीं जाता। प्राकृतिक विषमता की जगह रुपये की नींव पर जो कृत्रिम विषमता खड़ी कर दी गई है वह बहुतों को लोकहित की सेवा करने ही नहीं देती। आज केवल उतनी और उसी विद्या की खोज है जो लब्धस्वार्थ व्यक्तियों की श्रीवृद्धि में सहायक हो सके; यदि इस पर भी कुछ प्रतिभा और

कला का प्रकाश बच रहा है तो या तो इसलिए कि उसका अस्तित्व श्रीमानों की शोभा बढ़ाता है या उसको शारदा का कुछ ऐसा आशीर्वाद प्राप्त है कि अप्रसन्न होते हुए भी वह उसकी सत्ता को मिटा नहीं पाते। इन बातों को देखते हुए हम यह कहने को विवश हैं कि प्राकृतिक विषमता का नाम लेकर वर्तमान सामाजिक संव्यूहन का समर्थन नहीं किया जा सकता।

यह भी ठीक-ठीक समझ लेना चाहिए कि हम सामाजिक संव्यूहन में किस बात का विरोध कर रहे हैं। यहाँ पर हम यह नहीं कह रहे हैं कि सब लोगों की सम्पत्ति बराबर कर दी जाय या विभिन्न काम करनेवालों को एक सा ही पारिश्रमिक मिले। हम यहाँ पर वर्ग-व्यवस्था के सम्बन्ध में भी नहीं विचार कर रहे हैं। हमारा कहना यह है कि समाज की उन्नतिशीलता की परख उसके चोटी के महापुरुषों से नहीं वरन् जनसाधारण से होती है। जन-साधारण की उन्नति तब ही हो सकती है जब मनुष्य होने के नाते सब बराबर समझे जायँ और कोई तब तक बड़ा या छोटा न समझा जाय जब तक वह व्यवहार क्षेत्र में अपनी करनी से इसका प्रमाण न दे दे। हम यह कह सकते हैं कि जब तक सम्पत्ति के उत्पादन के मुख्य साधनों पर सारे समाज का स्वाम्य न होगा तब तक उत्पादन का लक्ष्य जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति के स्थान में थोड़े से व्यक्तियों का लाभ होगा। उस अवस्था में यह थोड़े से व्यक्ति राजशक्ति अपने स्वार्थ की सिद्धि का साधन बनाकर रक्खेंगे और जनता का बहुत बड़ा अंश नीचे गिरा रह जायगा। यही कृत्रिम विषमता है और जब तक यह रहेगी तब तक वास्तविक न्याय का गला घोंटा जायगा।

इस कथन का यह तात्पर्य नहीं है कि आजकल कोरा अन्याय ही होता है। जिस प्रश्न में वर्गसंघर्ष जितना ही छिपा रहेगा उसमें उतना ही न्याय होगा। दो पूँजीपतियों या दो श्रमिकों के बीच न्याय करना कठिन नहीं है। कठिनाई वहाँ पड़ती है जहाँ दोनों ओर से दो भिन्न

स्वार्थ वाले पक्ष खड़े होते है। ऐसे मामलों में भी सदा अयथार्थ कार्यवाही नही होती। ऐसे भी न्यायाधिकारी है जो अपने को वर्ग-भावना के ऊपर उठाकर इस बात की जाँच करते हैं कि अपराधी कौन है और उसको दण्ड देने की चेष्टा करते है। ऐसे लोगों के अस्तित्व के कारण ही यह भ्रम बना हुआ है कि राज में न्याय होता है। पर सच बात यह है कि प्रयत्न करके भी प्राय: न्याय करने में सफलता नहीं हो सकती क्योंकि समाज का संव्यूहन ही अन्यायमूलक है और जिन विधानों के अनुसार न्यायाधीश को चलना पड़ता है वह इस अन्याय के आधार पर बने हैं। न्याय की उपमा तुला से दी जाती है। आदर्शदृष्ट्या यह उपमा ठीक है परन्तु व्यवहार मे तुला का एक पल्ला पहले मे ही झुका हुआ है। पहले वह सीधा हो ले तब कहीं ठीक तौल मिल सकती है।

समाज के संगठन की जड़ में जो अन्याय है वह सामाजिक जीवन के सारे वातावरण को विषाक्त किये हुए है। प्रतिदिन खुला विद्रोह नहीं होता। ग़रीब लोग भी हँसते-बोलते है, गाते बजाते हैं। परन्तु विषमता घुन की भाँति सामाजिक शान्ति को छेदती रहती है। अपनी आत्मा की अभिव्यक्ति लक्ष्य नहीं रह गया है। सब की दृष्टि धन बटोरने की ओर जाती है, इसके लिए चाहे जैसे उपायों से काम लेना पड़े। एक ओर थोड़े से मनुष्य समृद्धि और सुख का रस लेते हैं, दूसरी ओर करोड़ों मनुष्यों को टुकड़ों पर सन्तोष करना पड़ता है। वह अपने में जिस योग्यता को देखते हैं उससे काम लेने का अवसर नहीं मिलता। पेट भर भी जाय परन्तु हृदय मरते दम तक भूखा ही रहता है। चुनाव में मत देने का अधिकार देकर ऐसे लोगों को थोड़ा-बहुत भुलावे में डाला जा सकता है पर यह बात भी बहुत दिनों तक नहीं चल सकती। यदि रहने को ठिकाने का घर नहीं है, खाने को अच्छा भोजन नहीं मिलता, तेली के बैल की भाँति पिसना पड़ता है, अध्यात्म-चिन्तन या सांस्कृतिक रसास्वाद के लिये समय नहीं मिलता, अपने बच्चों की शिक्षा का प्रबन्ध नहीं हो सकता, तो फिर मत देने का अधिकार लेकर ही क्या होगा? यह अधिकार तब

ही उपयोगी हो सकता है जब समाज का संघटन न्यायमूलक हो अर्थात् नागरिक मात्र के सहज हितों का साधन राज का लक्ष्य हो और वह किसी समुदाय विशेष की ओर अधिक ध्यान देने के लिए बाध्य न हो। उसी अवस्था में अन्ताराष्ट्रीय समस्याएँ भी सुलझ सकती हैं। जब वस्तुओं का उत्पादन लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए, न कि पूँजी लगानेवाले व्यक्तियों को लाभ पहुँचाने के लिए होगा, और राज कुछ प्रभावशाली समुदायों के गौरव और धन बढ़ाने के साधन न रह जायँगे, तब ही विभिन्न देशों और राष्ट्रों में प्रतिस्पर्धा की जगह सहयोग का भाव फैल सकेगा और मनुष्यमात्र को एक कुटुम्ब मानकर उसके कल्याण की बात सोची जा सकेगी।

सदाचार

वैयक्तिक व्यवहार में 'न्याय' शब्द का जो अर्थ होना चाहिए उसका दिग्दर्शन ऋत और सत्य के प्रसङ्ग में हो चुका है। अपने धर्म का पालन करना अर्थात् कर्तव्यपथ पर चलना ही न्याय है। इस विषय का विवेचन आचारशास्त्र का ध्येय है, इसलिए उस पर यहाँ विस्तार से विचार करना अनावश्यक है। जो मनुष्य सत्य के मार्ग पर चलनेवाला होगा उसका आचरण न्याययुक्त होगा। न्यायाचार की एक बड़ी परख है। जिसके साथ बर्ताव करना हो, अपने को उसकी जगह रखकर सोचा जाय कि अपने लिए क्या अच्छा होगा। वैसा ही आचरण किया जाय। जो मनुष्य जितनी ही सफलता के साथ अपने में दूसरों के साथ इस प्रकार की समवेदना, सहानुभूति उत्पन्न कर सकेगा उसका व्यवहार उतना ही न्यायपूर्ण होगा। कभी-कभी अपने भाव को पहचानने में भूल हो सकती है। यह भी हो सकता है कि जो बात अपने को अच्छी लगे वह वस्तुतः श्रेय न होकर प्रेय मात्र हो। फिर भी अभेदमूलक व्यवहार प्रशंसनीय और न्याययुक्त ही होगा। अन्याय वहीं होता है जहाँ मनुष्य अपने लिए एक मर्यादा और दूसरों के लिए दूसरी मर्यादा रखता है। ऐसी भेद-दृष्टि न रखना ही वास्तविक सदाचार है।

हमने संक्षेप में उन तीनों क्षेत्रों पर दृष्टि डाली है जिनमें न्याय शब्द का प्रयोग किया जाता है। ऐसा देख पड़ता है कि जहाँ कर्म होगा वहीं न्याय अन्याय का प्रश्न उठ सकता है। जो कर्म उचित है उसका करना कर्तव्य और न्याय है, जो अनुचित है उसका करना अकर्तव्य, अधर्म और अन्याय है। जिस कर्म की तह में मैं-तू, अपना, पराया का भेद रहता है वह कर्म रागद्वेष से विमुक्त हो नहीं सकता और उसके करने में अन्याय का अंश अवश्य रहेगा। जितना ही भेद भावना छोड़कर मैं को पर के साथ, व्यक्ति को विराट् के साथ मिलाया जा सकेगा उतना ही अपना और सब का कल्याण सम्पादित होगा, उतना ही न्याय होगा। व्यक्ति के सामने कर्तव्य का यही प्रशस्त पथ है। राज भी तभी न्यायकारी कहला सकता है जब वह निष्पक्ष होकर सब नागरिकों को मनुष्य की भाँति रहने का, अर्थात् आत्माभिव्यक्ति करने और धर्म का साक्षात्कार करने का, अवसर दे। जो व्यक्ति और जो राज न्यायपथ से विचलित होता है वह अपने लिए विपत्ति का आह्वान करता है क्योंकि ऋतसत्यात्मक जो नियति शक्ति विश्व का परिचालन और नियमन कर रही है वह कभी सोती नहीं। वह सत्यानुचारी को ऊपर उठाती है, सत्यविपथगामी को नीचे गिराती है। यही उसका न्याय है।

हँसी का मनोवैज्ञानिक विवेचन और साहित्य में हास्यरस का उचित स्थान

हँसी से सम्बन्ध रखनेवाला रस हास्यरस है। साहित्य के आचार्यों ने इसके कई लक्षण और भेद बतलाये हैं पर मूल बात यही है कि हास्य-रस हास्य, हँसी पर निर्भर है। पता नहीं शृङ्गार और करुण की भाँति हास्यरस को भी किसी ने आद्य और सर्वश्रेष्ठ माना है या नहीं पर यदि 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' वाली परिभाषा ठीक है तो स्त्री पुरुष, बाल-वृद्ध, शिक्षित-अशिक्षित, अथच समाज के सभी वर्ग, निरन्तर हास्य-रसात्मक काव्यों की रचना करते रहते हैं क्योंकि हँसी प्रायः सब को आती है और हँसानेवाली बात प्रायः सर्वत्र सुनी जाती है।

पर प्रश्न यह होता है कि हमको हँसी कब आती है, वह कौन-सी परिस्थिति है, जो हमको हँसा सकती है? चित्त-शास्त्र के विद्वानों ने इस पर विचार किया है। उनके विचारों के निष्कर्ष को थोड़े शब्दों में यों कह सकते हैं कि "समवेदना के अभाव में स्वल्प अपूर्णता के अनुभव से चित्त में जो परिणाम होता है वह अपने को जिस बाह्य चेष्टा द्वारा व्यक्त करता है उसका नाम हँसी है।"

उपर्युक्त सूत्रात्मक वाक्य को स्पष्ट करना आवश्यक है। इस उद्देश्य से हम इसके मुख्य-मुख्य पदों को लेकर उनका अर्थ समझाने का प्रयत्न करेंगे।

(क) स्वल्प अपूर्णता—प्रत्येक मनुष्य ने मनुष्य की आकृति और व्यवहार का एक आदर्श बना रक्खा है। यह आदर्श उसकी बुद्धि, संस्कृति और ज्ञान के अनुरूप होता है। हम सबने अपने अपने चित्त में यह स्थिर कर लिया है कि मनुष्य का शरीर और उसके अवयवों की रचना कैसी

होनी चाहिए, उसके उठने-बैठने, बोलने-चालने, खाने पीने का ढंग कैसा होना चाहिए, उसको किस अवसर पर कैसा व्यवहार करना चाहिए। यह चित्र अस्पष्ट है, यदि हमसे कहा जाय तो इसका ठीक ठीक वर्णन नहीं कर सकते, पर इसके अस्तित्व में कोई सन्देह नहीं है। इस चित्र में बहुत कुछ तो हमारे शरीर और व्यवहार की छाया है, शेष अंश हमारे समाज के व्यवहार से आया है और कुछ हमारी विद्या और बुद्धि से प्रेरित विचारों का फल है। यों कहना अनुचित न होगा कि हम अपना ढाँचा खींचकर उसमें अपने समाज की परिपाटी और अपनी शिक्षा-दीक्षा द्वारा जहाँ-तहाँ रंग भर देते हैं और फिर इस मानस चित्र की कसौटी पर दूसरों को कसते हैं। जो इसके अनुकूल उतरता है उसको तो साधारण मनुष्य समझते हैं, दूसरों को प्रायः अपूर्ण मानते हैं। 'प्रायः' इसलिए कहा जाता है कि कोई कोई मनुष्य हमारे चित्र से सर्वथा प्रतिकूल होते हुए भी हमें अपूर्ण नहीं जँचता, उलटे उसको देख कर हमें अपना आदर्श ही अपूर्ण जँचने लगता है। हम ऐसे मनुष्य को महात्मा, साधु आदि नामों से पुकारते हैं और उसके प्रति श्रद्धा, ईषद्भय, का अनुभव करते हैं। पर इन थोड़े से अपवादों को छोड़कर अन्य ऐसे व्यक्ति जो हमारे आदर्श के अनुकूल नहीं ठहरते हमको अपूर्ण प्रतीत होते हैं। उनको देखकर चित्त में जो परिणाम होता है, पारिभाषिक भाषा को छोड़कर सामान्य बोलचाल में यों कहिये कि चित्त की जो अवस्था होती है, वह हँसी के रूप में प्रकट होती है। बहुत लंबा या नाटा मनुष्य, काना, चपटी नाकवाला—इन सबको देखकर हम हँस देते हैं। जिसके पाँव सीधे नहीं पड़ते, जो लड़खड़ा कर चलता है; जो बैठे बैठे ऊँघता है या ऊँघ कर गिर पड़ता है; जो पूर्णवयस्क मनुष्य छोटे छोटे जीव जन्तुओं को देखकर डर जाता है; जिसकी वाणी व्याकरण से अशुद्ध होती है; जो नमस्कार करने, भोजन पान के पात्रों को बरतने, नहीं जानता; जो अनर्गल बकता है, इन सभों को देखने से हमें हँसी आती है।

इन सब दशाओं में आपन्न मनुष्य हमारे आदर्श से, हमारे मानस

चित्र से, गिरे हुए हैं। पर इन उदाहरणों पर सूक्ष्म विचार करने से यह प्रतीत होगा कि इनमें जो अपूर्णता है वह निरवच्छिन्न नहीं है। उसमें कई विशेष गुण हैं। एक विशेषता तो यह है कि वह स्वल्प है। काने को देखने से हँसी आ सकती है पर अंधे, बहिरे, गूँगे, एक हाथ वाले को देख कर हँसी नहीं आती। अनर्गल बकनेवाले पर हँसी आ सकती है पर नितान्त पागल पर नही। जो सभ्य समाज का अंग बन कर असंस्कृत व्यवहार करता है उस पर हँसी आती है पर जो नितान्त बर्बर है उसके आचरण हमें नहीं हँसाते। ऐसे दृश्यों से अद्‌भुत, करुण या शान्त रस का उद्रेक हो सकता है, हास्य का नहीं। इस अपूर्णता का दूसरा लक्षण यह है कि वह आधि-व्याधिजन्य न हो। यदि किसी रोग से किसी का अंगभंग हो गया है या पीड़ा के कारण उसके पाँव बराबर नहीं पड़ते तो उस पर हँसी नही आती। अनर्गल वार्ता पर हँसी आती है पर सन्निपात के प्रलाप पर नहीं। यदि किसी पढ़े-लिखे मनुष्य के लड़के को साधारण सा ज्वर आ जाय और वह बौखलाया सा फिरे तो उसके व्यवहार पर हँसी आ सकती है पर जब कोई स्त्री अपने बच्चे की सामान्य सी अस्वस्थता पर व्यग्र और चिन्तातुर देख पड़ती है तो हँसी नहीं आती क्योंकि उसकी चिन्ता आधि की कोटि तक पहुँची होती है। अरस्तू ने हास्योत्पादक अपूर्णता का यह लक्षण बताया है कि वह ऐसी न हो जिससे वाह्य क्षति या आन्तरिक व्यथा हो।

बेन ने कहा है कि जब किसी मनुष्य पर अकस्मात् कोई ऐसी हल्की विपत्ति आ पड़ती है जो उसकी ही करनी का प्रत्यक्ष फल होती है तो हमें हँसी आ जाती है। यह लक्षण भी ऊपर के कई उदाहरणों में घटता है। यदि कोई मनुष्य सड़क पर चलते समय आकाश पर दृष्टि रखता है और फलतः गिर पड़ता है तो हमें हँसी आ जाती है क्योंकि यह उसके कर्म्मों का प्रत्यक्ष फल है और अकस्मात् मिला है पर यदि गिरने पर उसे गहरी चोट आ जाय तो हँसी नहीं आती। हँसी आ भी जाती है तो चोट देखकर लौट जाती है क्योंकि यह विपत्ति हल्की नहीं, गुर्वी है। यदि इस प्रकार

आकाश प्रेक्षण करनेवाला ऐसी ओर जा रहा हो जिधर आग जल रही है तो उसके जल जाने पर, चाहे उसे कष्ट थोड़ा ही हो, हमें हँसी नहीं आती क्योंकि यह बात अकस्मात् नही हुई, प्रत्युत हम इस दुष्फल की प्रतीक्षा ही कर रहे थे। यह ध्यान रखना चाहिए कि दूसरे की विपत्ति पर जो हँसी आती है उसमें बहुधा दया, द्वेष आदि का भी समावेश रहता है। उस समय हास्य के साथ साथ करुण, रौद्र आदि रसों का भी संमिश्रण हो जाता है।

जहाँ मानस-चित्र के साथ तुलना के लिए पर्य्याप्त क्षेत्र नहीं मिलता वहाँ हँसी भी नही आती। पशु-पक्षियों के आचरण कुछ अंशों में मनुष्यों के आचरणों से मिलते हैं इसलिए हम उनके व्यवहार को अपनी कसौटी पर कसते हैं; इसीलिए हमें उनके किसी किसी व्यवहार पर हँसी भी आती है। जड़ वस्तुओं में हम अपने साथ कोई सादृश्य नहीं पाते, अतः उनकी अपूर्णताओं पर प्रायः हँसते भी नहीं। पर कोमल बुद्धि वाले और अशिक्षित मनुष्य तथा बालक सामान्य ऊपरी सादृश्य को ही देखकर तुलना करने लग जाते हैं। बालक खिलौने को निर्जीव नहीं समझता। इसीलिए हम कभी कभी जड़ वस्तुओं की विशेष परिस्थितियों पर भी हँस देते हैं।

पूर्णता-अपूर्णता प्रत्येक मनुष्य के बुद्धि विकास और संस्कृति पर निर्भर होती है। जो एक का आदर्श है वह दूसरे के लिए सर्वथा दोषमय है। इसीलिए जिस पर एक को गर्व है उस पर दूसरा हँसता है। विद्वान् मनुष्य को सामान्य मनुष्यों पर हँसी आती है और विवेकी दार्शनिक तथा विरक्त योगी को प्राणीमात्र की दुर्बलताओं और अपूर्णताओं पर हँसी आ सकती है।

हम आचरण का आदर्श बना तो लेते हैं पर सदैव उस आदर्श पर टिकते नहीं, पदे पदे उस आचरण की कसौटी से न्यून ठहरते हैं। यह समझना कि मेरा चरित्र सर्वदा मेरे उच्च आदर्श के अनुकूल, अथच अनालोच्य है, केवल मिथ्याभिमान है। समझदार मनुष्य अपनी अपूर्णताओं का अनुभव करके अपने ऊपर भी हँसता है। अँगरेजों में इस प्रकार की हसनक्षमता 'सेंस आव ह्यूमर' की बड़ी प्रशंसा है। ठीक भी है, जो अपनी

त्रुटियों पर हँस नहीं सकता वह अपने तथा दूसरों के जीवन को दूभर बना देता है।

(ख) समवेदना का अभाव---समवेदना का अर्थ है दूसरे की मानस अवस्था, उसके भावों का अनुभव करना। दूसरे की अपूर्णता के अनुभव के साथ-साथ उसके प्रति समवेदना का अभाव भी होना चाहिए, नहीं तो हँसी नहीं आ सकती। जिसकी त्रुटि हमको देख पड़ती है उसको इस त्रुटि के कारण कष्ट हो रहा होगा, ऐसा जिसको भान होगा उसको प्रायः हँसी नहीं आ सकती। उसको जिस प्रकार का कष्ट हो रहा है इस प्रकार की अवस्था में मुझे भी ऐसा ही कष्ट होगा, इसकी जिसको प्रतीति होगी वह तो नहीं ही हँस सकता। जो लोग दूसरों के कष्टों पर हँसते देख पड़ते हैं वे जानबूझ कर क्रूर नहीं हैं, उनमें समवेदना का अभाव है। बर्गसाँ के अनुसार हँसनेवाले में वेदनाहीनता, हृदयहीनता होना अनिवार्य्य है। बच्चा किसी कीड़े या चिड़िया को बाँध देता है और उसकी टाँगों को तोड़ता है या पंख खींचता है, फिर उसके तड़पने और छटपटाने को देखकर खिल उठता है। इसका कारण यह नहीं है कि वह क्रूर है, उसे सचमुच सताना चाहता है, वरन् यह कि उसे उसकी छटपटाने की दशा देखने में प्रमत्त सी प्रतीत होती है और उसकी वास्तविक पीड़ा का उसे ज्ञान नहीं होता। क्रूर स्वभाव के मनुष्य कभी कभी अपने शत्रुओं के दुःखों को देखकर हँसते हैं। यह हँसी वस्तुतः शुद्ध हँसी नहीं है। देखने में मुखाकृति और शारीरिक चेष्टा हँसी जैसी भले ही हो पर मुख्यतः यह क्रोध और घृणा मिश्रित हर्ष का प्रदर्शन है। हाँ, इसमें शत्रु की अप्राकृतिक अर्थात् अपूर्ण अवस्था का अनुभव और उसके दुःख के प्रति न केवल असमवेदना प्रत्युत विषमवेदना भी समाविष्ट है, अतः कुछ अंश हँसी का भी है। समवेदनाशील को दया आ सकती है, हँसी नहीं। इसीलिए जिन बातों पर बच्चों तथा अनुद्बुद्धप्रज्ञ व्यक्तियों को हँसी आ जाती है उन बातों पर प्रौढ़ बुद्धिवाले मनुष्यों को हँसी नहीं आती। इसी कारण सच्चे साधु महात्मा, जो दूसरों की अपूर्णताओं से पूर्णतया परिचित हैं, उन पर

हँसते नहीं। उनकी समवेदना शक्ति उनको हँसने नहीं देती। हँसी का स्थान दया ले लेती है। उनका प्राणीमात्र के साथ ऐसा तादात्म्य होता है कि वह वैसी हँसी नहीं हँस सकते जैसी पराये के भूलों पर हँसी जाती है। जहाँ दूसरों को बात बात पर अट्टहास की सूझती है, वहाँ उन्हें मनुष्यमात्र की त्रुटियों पर हल्की सी मुस्कुराहट आ जाती है, जैसी कि हमें प्यारे बच्चों पर आती है या अपनी ही भूलों पर आ जाती है।

ऊपर जो कहा गया है उससे हँसी किस अवस्था में उत्पन्न होती है यह स्पष्ट हो जाता है। जब हमें किसी व्यक्ति में हमारे आदर्श की दृष्टि से कुछ अपूर्णता देख पड़ती है और इसके साथ ही हमारे हृदय में उसके प्रति समवेदना का अभाव होता है तो उस समय चित्त की एक विशेष अवस्था होती है, जिसे 'हसद्भाव' कह सकते हैं। उस समय चित्त में हास्यरस का उद्रेक होता है। प्रत्येक भाव अपने को विशेष चेष्टाओं द्वारा व्यक्त करता है। प्रेम, भय, क्रोध सब की व्यञ्जक विशेष विशेष चेष्टाएँ हैं। इसी प्रकार हसद्भाव भी आँख, होंठ, मुख आदि की विशेष मुद्राओं द्वारा प्रकट होता है।

हँसी का उदय तो समवेदना के अभाव से होता है पर उसके प्रचार के लिए एक प्रकार की समवेदना की आवश्यकता होती है। यदि मुझको किसी व्यक्ति में कोई त्रुटि देख पड़े और मेरे साथियों को न देख पड़े या उन्हें उसके प्रति विशेष समवेदना का अनुभव हो रहा हो तो मेरी आई हुई हँसी का भी लोप हो जायगा। एक सूखी तबियत या मुहर्रमी सूरत का मनुष्य, जिसको हसद्भाव युक्त व्यक्तियों से समवेदना न हो, जिसके हृदय में उस समय उनके भाव का अनुमोदन न हो रहा हो, सारी हँसने वाली मण्डली के आमोद पर पानी फेर देता है। ऐसे अवसर पर विशेषतः यदि वह न हँसने वाला अपने से बड़ा हो तो, हँसनेवाले का हसद्भाव, लज्जा और आत्मग्लानि में परिणत हो जाता है।

हसद्भाव किस अवस्था में उदय होता है यह तो हम देख चुके हैं, प्रश्न यह होता है कि यह कैसे उदय होता है। इस प्रश्न पर चिद्विश्लेषण

से कुछ थोड़ा-बहुत प्रकाश पड़ा है पर वह अभी पर्य्याप्त नहीं है। मैं इस दृग्विगय के सम्बन्ध में जो कुछ निश्चय कर सका हूँ वह यह है। शरीर की मांसपेशियों में जिस प्रकार शारीरिक शक्ति है, उसी प्रकार चित्त में चेतन शक्ति है और उसी प्रकार तच्छायास्वरूप नाड़ियों में प्राण शक्ति है। साधारण अवस्था में शारीरिक काम चलाने के लिए शरीर में शक्ति की एक मात्रा देख पड़ती है पर विशेष अवस्थाओं में सङ्कल्प द्वारा अधिक शक्ति भी आविर्भूत होती है। इसी प्रकार सामान्य अवस्थाओं में चित्त और नाड़िजाल में तत्तत् शक्ति की उपयुक्त मात्राएँ रहती हैं पर विशेष अवस्थाओं में सञ्चित भंडार में से अधिक मात्रा में भी लाई जा सकती हैं। जब कभी हमारे सामने कोई अपूर्णता यकायक आ जाती है तो एक गड़बड़ी पड़ जाती है। चित्त और नाड़ियों में तो साधारण अवस्था के अनुकूल शक्ति है और यहाँ ऐसी अवस्था आ पड़ी जिसमें शक्ति कम चाहिए। बस, ऐसी दशा में चेतन शक्ति के फ़ालतू अंश के उछल पड़ने से चित्त में जो एक विशेष अवस्था उत्पन्न होती है वह हसद्भाव है और नाड़ियों की फ़ालतू शक्ति शरीर में जो विकार उत्पन्न करती है वह हँसी है। यदि पहले से पता हो कि क्या होने वाला है तो शक्ति का संयम पहले ही से हो जाय और यह गड़बड़ी न हो। इसीलिए, जैसा कि हमने आरम्भ में दिखलाया है, हँसी के लिए दुर्घटना का अकस्मात् होना अनिवार्य्य है। इसी प्रकार, यदि किसी विशेष अवस्था की प्रतीक्षा में अधिक शक्ति आ गई और वह अवस्था घटित न हुई तो फ़ालतू शक्तियाँ हँसी उत्पन्न करायेंगी। अँधेरी रात में हम किसी कोठरी में किसी के पाँव की आहट और बर्त्तन खड़कने का शब्द सुनें और घर के दो-तीन व्यक्तियों को साथ में लेकर और हाथ में तलवार लेकर वहाँ चोर की आशंका से जायँ और पहुँचने पर वहाँ भागती हुई चुहिया देख पड़े तो हमें सहसा हँसी आ जायगी। जितनी शक्ति प्रस्तुत थी और जितनी शक्ति की वस्तुतः आवश्यकता पड़ी इन दोनों में जितना ही अधिक अंतर होगा उतना ही हँसी का आवेग अधिक होगा। इसलिए भी एक ही बात पर सबको एक सी हँसी नहीं

आती। जिसका चित्त वश में है, जिसने समता प्राप्त कर ली है, उसको क्षोभ होगा ही नहीं, उसके लिए कोई अवस्था विशेष अवस्था नहीं है, अतः न वह फ़ालतू शक्ति बुलाता है, न उसे हँसी आती है। जैसा मैंने पहले भी कहा है, उसका हसद्भाव इतना उग्र होता ही नहीं कि उसे समय के आगे जाने की आवश्यकता पड़े।

सामान्य जीवन में हँसने का जो स्थान है वह तो सब को ही विदित है। हम बात बात में हँसते है, बड़े बड़े लड़ाई-झगड़ों को हँसकर टाल देते है, दुःख की घड़ियों में भी हँसी की रेखा खींचने का प्रयत्न करते है। किसी ने कहा है कि हँसी वह तेल है जिसके बिना जीवनरूपी यंत्र बिगड़ जाता है।

एक अँगरेजी दोपदा कहता है कि बुद्धिमान से बुद्धिमान मनुष्य भी कभी कभी की दिल्लगी पसन्द करते है। इसके कई कारण है। एक तो इस प्रकार की हँसी-दिल्लगी मे हमको अपनी ही त्रुटियों का पता चल जाता है। दूसरे जब हम किसी बड़े की भूल पर हँसते है तो उस समय उसकी त्रुटि हमे उसकी उस सामान्य मनुष्यता का परिचय देती है जो उसकी महत्ता मे प्रायः छिपी रहती है। अतः उसके साथ इस प्रकार का सादृश्य सम्बन्ध जुड़ जाने से हमें एक प्रकार का सन्तोष होता है। हम बड़े नहीं तो बड़े के सम्बन्धी तो हैं। तीसरे जिस प्रकार काम करते करते शरीर थककर सुस्ताना चाहता है उसी प्रकार चित्त और नाड़िजाल भी थककर विश्राम करना चाहते हैं। हँसने के समय चेतन और प्राण शक्तियों का व्यय कम होता है अतः चित्त और नाड़िजाल पर तनाव कम पड़ता है और उन्हें शान्ति मिल जाती है।

जो स्थान हँसी का जीवन में है, वही स्थान उसका साहित्य मे है क्योंकि सामान्यतः साहित्य जीवन का प्रतिबिम्ब है। पर एक भेद है। जीवन में हँसी स्वतः आती है, साहित्य के द्वारा बुलाई जाती है। कवि केवल फ़ोटोग्राफ़र नहीं है, वह कलाविद् है, स्रष्टा है। अतः वह हँसी उत्पन्न करनेवाले अवसरों की सृष्टि करता है। यही उसका सबसे बड़ा दायित्व

है। एक अँगरेज़ ग्रन्थकार कहता है "बुराई की बाढ़ रोकने के लिए विवेक-बुद्धि और लिखे क़ानून यह दो दीवारें हैं। तीसरी दीवार हँसी है। यह उन छोटी बुराइयों को रोकती और दूर कर देती है जो रक्षकों की आँख बचाकर पहली दोनों दीवारों के भीतर घुस आती हैं।" यह बात ठीक है पर बहुत ही गौण रूप से। लिखे क़ानून उन बातों को रोकते हैं जिनसे प्रायशः समाज की क्षति होने की सम्भावना होती है और विवेकबुद्धि उन बातों को रोकती है जिनसे व्यक्ति की आध्यात्मिक क्षति होने की सम्भावना होती है। हँसी इन दो में से प्रायः एक भी काम नहीं करती। शारीरिक दोषों की बात तो जाने दीजिये, इन पर तो प्रायः मूर्ख ही हँसते हैं, पर किसी के वेषभूषा की, बोलचाल की, लेखनशैली की हँसी उड़ाई जा सकती है, चाहे इन बातों से व्यष्टि या समष्टि किसी की क्षति न होती हो। जो बात नई हो, असाधारण हो, उसकी हँसी हो सकती है। धार्मिक और दार्शनिक विचारों की, वैज्ञानिक सिद्धान्तों की, खिल्ली उड़ाकर विचार के विकास और प्रवाह में बाधा डालकर सभ्य जगत् को वास्तविक हानि पहुँचाई जा सकती है। व्यक्तियों के हृदयों को चोट पहुँचाकर उनकी प्रतिभा को सदा के लिए संकुचित किया जा सकता है। इसीलिए जिसकी लेखनी में हास्योत्पादन की शक्ति हो उसे बहुत समझ बूझकर काम करना चाहिए। जन-साधारण की त्रुटियों की ओर ध्यान आकर्षित करना पर इसके साथ ही समवेदना की वृद्धि कराना; हमारी सामान्य मनुष्यता के डोर को सुदृढ़ बनाना पर अश्लील, पाशव, बातों की ओर से दृष्टि को फेरना; मीठी चुटकियाँ लेना पर मर्म्मघात न होने देना; सर्वोपरि धर्म, कला और विद्या के प्रचार में सहायक होना—यह सब हास्यरसमयी लेखनी का चमत्कार होना चाहिए।

बहुत से साधु महात्मा सदैव हँसते रहते हैं। देवगण, ऋषिगण, साधुगण के 'प्रसन्न वदन' होने का बराबर कथन मिलता है। साधु महात्मा ही नहीं, सामान्य मनुष्यों के चेहरों पर भी ऐसी हँसी कभी कभी देख पड़ती है। मेरा विश्वास है कि यह "हँसी"

वस्तुतः हँसी नहीं है। हृदय में जो दुःख का अभाव, सन्तोष, ब्रह्मानन्द है, वह अपने को जिस आकृति द्वारा व्यक्त करता है उसे हम 'हँसी' कहते हैं। आकृतिसाम्य का कारण स्पष्ट ही है। हमारे चित्त में भाव तो अनेक उठते हैं पर उनके व्यञ्जन के लिए हमारे पास गिने गिनाये ही अवयव हैं। होंठ, आँख, गाल आदि के ही द्वारा भावों का व्यञ्जन होता है। इसीलिए कई भिन्न भावों का व्यञ्जन सदृशतम् बाह्य चेष्टाओं के द्वारा होता है। क्रोध में गाल लाल हो जाते हैं, लज्जा में भी उन पर लालिमा दौड़ जाती है; हर्ष, भय और शोक तीनों के अतिरेक में अपस्मार हो सकता है।